10 श्रमण-धर्म

ब्रह्मचारी बनें

अंतरंग गांठें छोड़े

मन को निर्मल बनाएँ

सत्य बोले-प्रिय बोले

संयमी बनें

तपस्वी बनें

संतोषी बनें

सरल बनें

नम्र बनें

क्षमाशील बनें

लेखक :-

आचार्यदेव रत्नसेनसूरीश्वरजी म.सा.

10
श्रमण-धर्म

-: लेखक :-

परम शासन प्रभावक, व्याख्यान वाचस्पति, दीक्षा युग प्रवर्तक
पूज्यपाद आचार्यदेव श्रीमद् विजय **रामचंद्रसूरीश्वरजी म.सा.** के
तेजस्वी शिष्यरत्न बीसवीं सदी के महान् योगी,
भावाचार्य तुल्य पूज्यपाद पंन्यासप्रवर
श्री भद्रंकरविजयजी गणिवर्य के कृपापात्र चरम शिष्यरत्न,
मरुधररत्न, गोड़वाड़ के गौरव, जैन हिन्दी साहित्य दिवाकर
पूज्य आचार्यदेव श्रीमद् विजय **रत्नसेनसूरीश्वरजी म.सा.**

255

◆ प्रकाशक ◆

दिव्य सन्देश प्रकाशन

C/o. सुरेन्द्र जैन, Office No. 304, 3rd Floor,
बे.व्यु. बिल्डींग, विंग-ईस्ट बे,
डॉ.एम.बी. वेलकर स्ट्रीट, कालबादेवी, मुंबई-400 002.
Cell 84 84 84 84 51 (only whatsapp)

आवृत्ति : प्रथम • **मूल्य :** 250/- रुपये • **प्रतियाँ :** 750
विमोचन तिथि : दि. 4-7-2025
विमोचन स्थल : आराधना भवन, उदयपुर, (राज.)
• **Website :** Divyasandesh.online

आजीवन सदस्य योजना

आजीवन सदस्यता शुल्क - 4000/- रु.

• आप जैन धर्म के रहस्य, जैन इतिहास, जैन तत्त्वज्ञान, जैन आचार मार्ग, प्रेरणादायी कथाएँ आदि का अध्ययन करना चाहते हों तो आज ही आप **दिव्य संदेश प्रकाशन** मुम्बई की आजीवन सदस्यता प्राप्त कर लें। सदस्य बनते ही अध्यात्मयोगी निःस्पृह शिरोमणि स्व. पूज्यपाद पंन्यासप्रवर **श्री भद्रंकरविजयजी गणिवर्यश्री** एवं उन्हीं के चरम शिष्यरत्न प्रवचन प्रभावक परम पूज्य ***आचार्यदेव श्रीमद् विजय रत्नसेनसूरीश्वरजी म.*** सा. द्वारा लिखित उपलब्ध 7 पुस्तकें दी जाएंगी और **अर्हद् दिव्य संदेश** मासिक तथा भविष्य में हिन्दी भाषा में प्रकाशित पुस्तकें (Open Book Exam साधु–साध्वी उपयोगी पुस्तकें एवं पुनः मुद्रित पुस्तकों को छोड़कर) घर बैठे प्राप्त होगी। आप आजीवन सदस्यता शुल्क मुंबई या बैंगलोर के पते पर दिव्य संदेश प्रकाशन-मुंबई के नाम से चैक व ड्राफ्ट से भेजें।

प्राप्ति स्थान

1. चेतन हसमुखलालजी मेहता
भायंदर (M.S.)
M. 9867058940

2. प्रवीण गुरुजी
C/o. श्री आत्म कमल लब्धिसूरि जैन पुस्तकालय
श्री आदिनाथ जैन टेंपल,
चिकपेठ, बेंगलोर-560 053.
M. 9036810930

3. चंदन एजेन्सी
607, चीरा बाजार,
मुंबई-400 002.
M.9820303451

आजीवन सदस्यता शुल्क
Rs. 4000/- भिजवाने का पता एवं पुस्तक-प्राप्ति-स्थान :

(1) दिव्य संदेश प्रकाशन

C/o. सुरेन्द्र जैन, Office No. 304, 3rd Floor, बे व्यु बिल्डिंग,
विंग-ईस्ट बे, डॉ. एम.बी. वेलकर स्ट्रीट, कालबादेवी,
मुंबई-400 002. Mobile : 84 84 84 84 51 (only whatsapp)

(2) दिव्य संदेश प्रचारक

प्रकाश बड़ोल्ला, 52, 3rd Cross, शंकरमट रोड, शंकरपुरा,
बैंगलोर-560 004. Tel. (O.) 4124 7478 M. 8971230600

प्रकाशक की कलम से...

बीसवीं सदी के महान योगी, नमस्कार महामंत्र के बेजोड साधक, अध्यात्मयोगी भावाचार्य तुल्य **पूज्यपाद पंन्यास प्रवर श्री भद्रंकरविजयजी गणिवर्य** के कृपा पात्र चरम शिष्यरत्न, जैन हिन्दी साहित्य दिवाकर पूज्यपाद आचार्यदेव श्रीमद् विजय **रत्नसेनसूरीश्वरजी म.सा.** द्वारा हिन्दी भाषा में आलेखित **255 वीं** पुस्तक **10 श्रमण धर्म** का प्रकाशन करते हुए हमें अत्यंत ही हर्ष हो रहा है ।

जैन धर्म का मौलिक साहित्य प्राकृत और संस्कृत भाषा में है । जैनों के सभी **45 आगम प्राकृत भाषा** में हैं, जब कि **14 पूर्वों की रचना** एवं **मूल आगमों पर टीकाएं संस्कृत भाषा** में है ।

जैनों का बहुत बडा दुर्भाग्य है कि श्रमण संघ को छोडकर श्रावक संघ में प्राकृत-संस्कृत भाषा का ज्ञान लुप्त प्राप्त हो गया है ।

भूतकाल में हुए अनेक पूर्वाचार्य महर्षियों में प्राकृत-संस्कृत भाषा में विपूल साहित्य का सर्जन किया हैं, परंतु भाषा बोध के अभाव के कारण साहित्य का विपूल खजाना हमारे पास में होते हुए भी हमारी स्थिति कंगालसी हो गई है ।

निकट के भूतकाल में हुए अनेक आचार्य आदि महर्षियों ने पूर्वाचार्य कृत संस्कृत-प्राकृत रचनाओं का गुजराती भाषा में अनुवाद किया है । आज भी गुजराती भाषा में श्वे.मू. जैन संघ का विपूल साहित्य उपलब्ध है । परंतु हिन्दी राष्ट्र भाषा होने के बावजूद भी श्वे.मू. संघ में हिन्दी साहित्य की बहुत बडी कमी हैं ।

संघ के सद्भाग्य से **पू. आचार्य श्री रत्नसेनसूरीश्वरजी म.सा.** ने इस कमी की पूर्ति करने का अथक प्रयास किया है ।

अपने संयम जीवन के पांचवें वर्ष से प्रारंभ हुई उनकी हिन्दी साहित्य यात्रा आज भी अबाध गति से चल रही है ।

वि.सं. 2038 में वै.सु. 14 के शुभदिन **'वात्सल्य के महासागर'** नाम की छोटीसी कृति से उनकी साहित्य यात्रा का मंगल प्रारंभ हुआ था । जो आज **255 के Milestone** तक पहुँच चूकी है ।

पूज्यश्री की जन्मभूमि बाली (राज.) है । उनकी मातृभाषा हिन्दी है । बचपन में उनका व्यवहारिक शिक्षण भी हिन्दी भाषा में हुआ था । उनके संयम जीवन के लगभग 34 चातुर्मास हिन्दी भाषी क्षेत्रों में हुए है । हिन्दी भाषा पर उनका अच्छा प्रभुत्व है । उनकी भाषा अत्यंत ही सरल, सुगम व सुबोध है । आबाल-गोपाल उनकी भाषा को सरलता से समझ सकता है ।

उनके प्रवचन जितने सरल व सुगम है, उसी प्रकार उनकी साहित्य रचना भी उतनी ही सरल व सुबोध है ।

इस वर्ष चातुर्मास की पूर्णाहुति के बाद माघ शुक्ला त्रयोदशी दि. 31 Jan. 2026 के शुभ दिन पूज्यश्री अपने संयम जीवन के सुवर्णवर्ष में (50 वें वर्ष में) मंगल पदार्पण कर रहे है ।

हम शासनदेव से यही प्रार्थना करते है कि उनका स्वास्थ्य निराबाध रहे और वे अपने वरदहस्तों से जैन धर्म के मौलिक संस्कृत-प्राकृत साहित्य को हिन्दी भाषा में अवतरित कर हिन्दी भाषी प्रजा पर उपकार की वृष्टि सदैव करते रहे ।

लेखक की कलम से...

10 श्रमण धर्म

किसी भी व्यक्ति के बाह्य वेष को देखकर उसके बाह्य व्यक्तित्व की पहिचान होती है ।

❀ सैनिक के वेष में रहे व्यक्ति को देखकर हम कहते हैं कि वह सैनिक है ।

❀ **पुलिस की वर्दी में रहे व्यक्ति को देखकर हम कहते हैं कि यह पुलिस है ।**

❀ सिर पर रही पगडी व दाढी-मूंछ को देखकर कहते हैं कि यह सिक्ख-सरदारजी है ।

❀ **R.S.S. का अपना ड्रेस है । N.C.C. का अपना ड्रेस है ।**

❀ वकील का अपना ड्रेस है । जज का भी अपना ड्रेस है ।

❀ **मुस्लिम-मुल्ला का भी अपना ड्रेस है ।**

उसी प्रकार साधु-संन्यासी का भी अपना ड्रेस होता है ।

हिन्दु संन्यासी का अपना स्वतंत्र ड्रेस है तो बौद्ध संन्यासी का भी अपना ड्रेस है ।

❀ **इसी प्रकार जैन साधु का भी अपना ड्रेस है । इस ड्रेस, वस्त्र-परिधान के आधार पर हमें पता चलता है कि ये जैन साधु है ।**

जिसके सफेद वस्त्र हो, पांव में जुते न हो, जिसके बाए हाथ की बगल में रजोहरण हो, जिसके हाथ में मुंहपत्ति हो । जिसके बाए कंधे पर कामली हो, जिसने चोलपट्टा पहिना हो, इत्यादि बाह्य वेष को देखकर हम कह सकते हैं कि ये जैन साधु महात्मा है ।

❀ बाह्य वेष परिधान तो सिर्फ व्यवहार के लिए है, सच्चे साधु की वास्तविक पहिचान तो उसके गुणों के आधार पर है ।

कई बार किसी को ठगने के लिए भी बाह्य-वेष का परिधान किया जा सकता है ।

❀ **बुद्धि निधान अभयकुमार को अपने जाल में फंसाने के लिए किसी वेश्या ने श्राविका का वेष परिधान किया था ।**

❀ उदायी राजा की हत्या करने के लिए विनयरत्न ने 12 वर्ष तक साधुवेष पहिन रखा था ।

बाह्य वेष तो व्यवहार मार्ग के पालन के लिए है । आत्म कल्याण बाह्य वेष के आधार पर नहीं, बल्कि अंतरंग गुणों के आधार पर ही होता है ।

साधु के अंतरंग गुणों को पहिचानने के लिए 10 प्रकार के श्रमण धर्म बतलाए है ।

इन्हीं गुणों के आधार पर पता चलता हैं कि हम मात्र वेष से साधु है या अंतरंग गुणों से वास्तव में साधु है ।

धर्म की व्याख्या करते हुए ठीक ही कहा हैं–

'वत्थु सहावो धम्मो ।' वस्तु का स्वभाव ही उसका धर्म कहलाता है ।

अग्नि का धर्म उसकी **उष्णता-गर्मी** है ।

जल का धर्म **शीतलता-ठंडक** है ।

आत्मा का धर्म ज्ञान, **दर्शन व चारित्र** है ।

अरिहंतों का धर्म **परोपकार मग्नता** है ।

सिद्धों का धर्म **अनंत ज्ञान, अनंत आनंद** व **शाश्वतता** आदि हैं ।

आचार्यों का धर्म पंचाचार पालन हैं ।

– उपाध्यायों का धर्म विनय व स्वाध्याय मग्नता आदि है उसी प्रकार साधु का धर्म **''क्षमादि''** है ।

इससे सिद्ध होता है कि जो क्षमा आदि 10 धर्मों का पालन करता है, वही सच्चा साधु है ।

साधुवेष धारणकर भी जो क्षमा आदि धर्मों का पालन नहीं करता है, वह तो मात्र वेष से ही साधु है ।

साधु जीवन में भी प्रतिक्रमण, प्रतिलेखना, गोचरी, विहार एवं लोच आदि प्रभु की आज्ञाओं का पालन भी क्षमा आदि श्रमण-धर्मो को जीवन में आत्मसात् करने के लिए ही है ।

प्रतिक्रमण-प्रतिलेखना आदि प्रभु की द्रव्य आज्ञाएं है और राग-द्वेष का क्षय करना अर्थात् क्षमा आदि आत्मगुणों को आत्मसात् करना प्रभु की भाव-आज्ञा है ।

द्रव्य आज्ञाओं का पालन भी प्रभु की भाव-आज्ञाओं के पालन के लिए ही है ।

शास्त्रकार कहते है कि हमने-हमारी आत्मा ने भूतकाल में अनंती बार श्रमण वेष धारण किया, अनंती बार द्रव्य चारित्र का पालन किया, परंतु वह सफल नहीं हुआ, निष्फल गया, उसका एक मात्र कारण हमने क्षमा आदि धर्मों को आत्मसात् नहीं किया ।

अब इस जीवन में देवों को भी दुर्लभ ऐसा मानव जन्म और उस जन्म

में भी दुर्लभ ऐसा श्रमण-वेष प्राप्त हुआ है तो कम से कम इस बार तो इस जीवन में क्षमा आदि धर्मों को आत्मसात् कर इस जीवन को सफल व सार्थक बनाए ।

यदि इस जीवन में भी यदि यह कार्य सिद्ध नहीं हुआ तो समुद्र में गिरी एक जल बुंद की तरह हमारा जीवन निष्फल ही माना जाएगा ।

विराट् समुद्र में पानी की एक बुंद गिर जाय या उस समुद्र में से कोई एक बुंद निकाल दे तो समुद्र को कोई फर्क नहीं पडता हैं, उसी प्रकार भूतकाल में अनंत बार द्रव्य चारित्र का पालन किया, उस अनंत में यह भव भी डाल दे तो कोई फर्क पडनेवाला नहीं है ।

बस, इस जिनवचन को समझकर दृढ संकल्प करे कि यह जीवन तो हमारा निष्फल नहीं जाएगा ।

इस जीवन में ऐसी आराधना-साधना करेंगें कि यह जीवन अवश्य सफल होगा ।

द्रव्य चारित्र के पालन स्वरुप एक भव का सुख अर्थात् देवलोक मिल सकता है परंतु परमानंद का सुख-शाश्वत सुख तो भावचारित्र के पालन से ही संभव होगा, **अतः हमारा प्रयत्न एक भव के सुख के लिए नहीं, परंतु शाश्वत सुख की प्राप्ति के लिए ही होना चाहिए ।**

परमोपकारी, भवोदधि तारक, वात्सल्यमूर्ति भावाचार्य तुल्य पूज्यपाद गुरुदेव पंन्यास प्रवर **श्री भद्रंकरविजयजी गणिवर्य** की निरंतर **बरस रही कृपावृष्टि के फल स्वरुप हिन्दी भाषा** में आलेखित **10 श्रमण धर्म** पुस्तक का आलेखन किया है, इसमें जो कुछ शुभ है, वह सब कुछ पूज्यपादश्री की कृपा-प्रसादी का ही फल है ।

पुण्यवंत आत्माएं इस पुस्तक का स्वाध्याय कर इसमें आलेखित उपदेश को जीवन में आत्मसात् कर प्रभु-मार्ग की आराधना-साधना के फलस्वरुप शाश्वत पद के भोक्ता बने, यही मंगल-प्रार्थना है ।

आराधना-भवन,
घाणेराव (राज.)
दि. 21-5-2025

अध्यात्मयोगी पूज्यपाद
पंन्यासप्रवर श्री भद्रंकरविजयजी
गणिवर्य कृपाकांक्षी
आचार्य रत्नसेनसूरि

Introduction

लेखक का संक्षिप्त-जीवन परिचय

गृहस्थ नाम	: राजु (राजमल चोपड़ा)
माता का नाम	: चंपाबाई
पिता का नाम	: छगनराजजी गेनमलजी चोपड़ा
जन्मभूमि	: बाली (राज.)
जन्म तिथि	: भादो सुद-3, संवत् 2014 दि. 16-9-1958
बचपन में धार्मिक अभ्यास	: पंच प्रतिक्रमण-नवस्मरण आदि
ब्रह्मचर्यव्रत स्वीकार	: 18 जून 1974
व्यावहारिक अभ्यास	: 1st year B.Com. (पार्श्वनाथ उम्मेद कॉलेज फालना-राज.)
दीक्षा दाता	: पू.पं. श्री हर्षविजयजी गणिवर्य
गुरुदेव	: अध्यात्मयोगी पू. पंन्यास **श्री भद्रंकरविजयजी गणिवर्य**
दीक्षा दिन	: माघ शुक्ला 13, संवत् 2033 दि. 2-2-1977
समुदाय	: शासन प्रभावक पू.आ. **श्री रामचन्द्रसूरीश्वरजी म.सा.**
दीक्षा दिन विशेषता	: भारत भर में लगभग 50 ऊपर दीक्षाएँ
108 मुमुक्षु वरघोड़ा	: 9 जनवरी 1977, मुंबई
दीक्षा स्थल	: न्याति नोहरा-बाली राज.
दीक्षा समय उम्र	: 18 वर्ष
बड़ी दीक्षा	: फाल्गुन शुक्ला 12, संवत् 2033
बड़ी दीक्षा स्थल	: घाणेराव (राज.)
प्रथम चातुर्मास	: संवत् 2033 पाटण पू.पं. श्री हर्षविजयजी के सान्निध्य में।

- **अभ्यास** : प्रकरण, भाष्य, 6 कर्मग्रंथ, कम्मपयडी, पंचसंग्रह, न्याय, काव्य, कोश, संस्कृत-प्राकृत व्याकरण, संस्कृत-प्राकृत साहित्य वाचन, ज्योतिष, आगम वाचन आदि।
- **भाषा बोध** : हिन्दी, अंग्रेजी, गुजराती, राजस्थानी, संस्कृत, प्राकृत, मराठी आदि।
- **प्रथम प्रवचन प्रारंभ** : फागुन सुदी 14, संवत् 2034 पाटण (गुजरात)।
- **चातुर्मासिक प्रवचन प्रारंभ** : बाली संवत् 2038।

- **विहार क्षेत्र :** राजस्थान, गुजरात, मध्यप्रदेश, महाराष्ट्र, कर्णाटक तामिलनाडू आदि ।
- **पादविहार :** लगभग 49,000 कि.मी. ।
- **अंजन शलाका एवं प्रतिष्ठायें :** मंड्या (कर्णाटक) वलवण, कामसेट, भायंदर (महा.) राजपुरा, भोपाल सागर, राजसमंद आदि में अंजनशलाका प्रतिष्ठा, जयपुर (राज.), बेंगलोर में 3 गृह जिनालय, पूना तथा कोयम्बत्तुर में एक-एक गृह जिनालय ।
- **(छ'री पालित संघ में मार्गदर्शन-प्रवचन) :** बरलूट से शत्रुंजय, गोदन से जैसलमेर, वल्लभीपुर से पालीताणा, लुणावा से राणकपुर पंचतीर्थी ।
- **छ'री पालक निश्रादाता :** उदयपुर से केशरियाजी, गिरधरनगर से शंखेश्वर, धूलिया से नेर, कराड़ से कुंभोज, सोलापुर से बार्शी, भिवंडी से महावीर धाम, कर्जत से मानस मंदिर, हस्तगिरि से शत्रुंजय होकर गिरनार, शत्रुंजय बारह गाऊ, सेवाडी से राणकपूर पंचतीर्थी, बेंगलोर से सुशीलधाम कोयम्बत्तूर से अव्वलपुंदरी ।
- **प्रथम पुस्तक आलेखन :** ``**वात्सल्य के महासागर**'' वि.सं.संवत् 2038 ।
- **अद्यावधि प्रकाशित पुस्तकें :** 259 ।
- **शिष्य-प्रशिष्य : स्व. मु. श्री उदयरत्नविजयजी म.,**
  स्व. मुनि श्री केवलरत्नविजयजी म.,
  स्व. मुनि श्री कीर्तिरत्नविजयजी म.,
  मुनि श्री प्रशांतरत्नविजयजी म., मुनि श्री शालिभद्रविजयजी म.,
  मुनि श्री स्थूलभद्रविजयजी म., स्व. मुनि श्री यशोभद्रविजयजी म.,
  मुनि श्री विमलपुण्यविजयजी म., मुनि श्री निर्वाणभद्रविजयजी म.
  मुनि श्री महापुण्यविजयजी म., मुनि श्री पुण्यबलविजयजी म.
- **उपधान निश्रा दाता :** कुर्ला, धुले, येरवडा, आदीश्वर धाम (दो), कर्जत, विक्रोली, मोहना, पालीताणा (दो बार), सेसली, कीर्तिस्तंभ (घाणेराव), नासिक, सुशीलधाम (बेंगलोर), मैसूर, महावीर धाम (मुंबई), लोढा धाम, सुखधाम (राज.) ।
- **गणि पदवी :** वैशाख वदी-6, विक्रम संवत् 2055, दि.7-5-1999 चिंचवड गाँव, पूना ।
- **पंन्यास पदवी :** कार्तिक वदी-5, विक्रम संवत् 2061,
  दि.2-12-2004 श्रीपालनगर, मुंबई ।
- **आचार्य पदवी :** पोष वदी-1, विक्रम संवत् 2067, दि. 20-1-2011 थाणा ।

TABLE OF CONTENTS

01	क्षमाशील बनें	11
02	नम्र बनें	39
03	सरल बनें	60
04	संतोषी बनें	74
05	तपस्वी बनें	84
06	संयमी बनें	116
07	सत्य बोले-प्रिय बोले	128
08	मन को निर्मल बनाएँ	151
09	अंतरंग गांठें छोडे	171
10	ब्रह्मचारी बनें	190

चारित्रवंत आत्मा के मुख्य 10 गुण

1 क्षमाशील बनें

क्षमा अर्थात् सहन करना । किसी ने अपने ऊपर क्रोध किया हो, उसे समतापूर्वक सहन करना । क्रोध के प्रसंग में भी शान्त रहना और गुस्सा न करना, क्षमा कहलाता है । क्रोध आग समान है और क्षमा उस आग को शांत करने के लिए जल के समान है । जिस प्रकार जल से आग शान्त हो जाती है, उसी प्रकार क्षमा से क्रोध की आग शान्त हो जाती है ।

क्रोध के प्रसंग में भगवान **महावीर, गजसुकुमाल मुनि, खंधक मुनि, समरादित्य केवली** तथा **सुकौशल मुनि** आदि के चरित्र व जीवन प्रसंगों को याद कर क्षमा-धर्म के पालन का अभ्यास करना चाहिए ।

क्षमा अर्थात् सहन करना ।

साधु अर्थात् क्षमामूर्ति !

क्षमा तो साधु जीवन का प्राण है ।

इसीलिए तो पंचांग प्रणिपात सूत्र में साधु को खमासमणो अर्थात् **'क्षमाश्रमण'** कहकर संबोधित किया है ।

❋ जिस सूत्र द्वारा त्रिलोक के नाथ प्रभु को वंदन किया जाता है, उसी सूत्र द्वारा साधु को भी वंदन किया जाता है ।

इससे स्पष्ट है कि साधु जीवन का प्राण यह क्षमा धर्म है ।

❋ **क्षमाभाव की परीक्षा प्रतिकूल संयोगों में है ।**

❋ जीवन में जब प्रतिकूल परिस्थिति खडी हो तब भी मन से लेश भी विचलित नहीं होना और उस परिस्थिति को भी समतापूर्वक-प्रसन्नतापूर्वक स्वीकार कर लेना, इसी में सच्ची परीक्षा है ।

प्रतिकूल संयोग अनेक प्रकार से खडे होते हैं –

(1) रोग :– अशाता वेदनीय कर्म के उदय से शरीर में अनेक प्रकार के रोग पैदा होते है ।

कभी सिरदर्द अर्थात् मस्तक में **पीडी** ।
कभी पेट में दर्द, कभी पांव में **दर्द** ।
कभी आंख में दर्द, तो कभी कान में **दर्द** ।
कभी केंसर का दर्द, तो कभी हॉर्ट में **दर्द** ।

शारीरिक रोगों के अनेक प्रकार है । जब भी शरीर में रोग पैदा होता है, उसका असर मन पर हुए बिना नहीं रहता है । मन विह्वल हो जाता है, मन आकुल-व्याकुल बन जाता है ।

शारीरिक रोग हो और चिकित्सा-इलाज का कोई साधन न हो, तब तो पूछना ही क्या ? मन दुर्ध्यानग्रस्त बन जाता है ।

परंतु सच्चा साधक वही है जो शारीरिक रोगों के हमलों को भी प्रसन्नता पूर्वक सहन करता है । अपने क्षमाभाव से लेश भी विचलित नहीं होता है ।

रोग के प्रसंग में भी साधु समाधि भाव में मस्त रहता है और अपने मन को समझाता है कि **'गत भव में मैंने अशाता वेदनीय कर्म का बंध किया है ।'** हंसते-हंसते दूसरे जीवों को खूब पीडा पहुँचाई है, दूसरों को हैरान किया है । कमजोर जीवों को सताया है ।

'योगशास्त्र' ग्रंथ में कलिकाल सर्वज्ञ **श्री हेमचन्द्राचार्यजी** ने लिखा है **जो अहिंसा धर्म का पालन करता है, उसे दीर्घ आयुष्य व निरोगी काया प्राप्त होती है ।**

इसका अर्थ ही है कि जो हिंसा का आचरण करता है, उसे अल्प आयुष्य और रोगी शरीर प्राप्त होता है ।

प्रकृति का यह नियम हैं, **'जो हम दूसरों को देते है, वही हमें मिलता है ।'**

जो दूसरों को पीडा पहुँचाता है, उसे पीडा ही मिलती है और जो दूसरों को शाता देता है, उसे शाता प्राप्त होती है ।

(2) संयम जीवन के कष्ट :–

(A) पादविहार :– साधु जीवन में जिंदगी भर खुले पांव चलने का विधान है। ठंडी में ठंडी लगती है। गर्मी में गर्मी का कष्ट होता है, रास्ते भी कहीं उबड-खाबड होते है। कभी सूर्य तपता हैं, तो कभी डामर की सडके तपती है।

परंतु विहार के इन कष्टों को जो प्रसन्नतापूर्वक सहन कर लेता हैं, वह अपूर्व कर्मनिर्जरा का भागी बन सकता है।

(B) मच्छर का उपद्रव :– कई गांव-शहरों में गर्मी के दिनों में मच्छरों का खूब उपद्रव होता है। मच्छरों के कारण रात में सोना भारी हो जाता है। ऐसे संयोगों में भी कई साधक मच्छरदानी आदि का भी उपयोग नहीं करते है। मच्छर के डंक को भी प्रसन्नतापूर्वक सहन कर लेते है।

(C) गोचरी के कष्ट :– साधु जीवन में गोचरी अर्थात् भिक्षा चर्या के द्वारा ही जीवन निर्वाह करना होता है।

वर्तमान काल में निर्दोष भिक्षा दुर्लभ हो गई है। फिर भी सच्चे साधक मुनि भिक्षा के उन कष्टों को प्रसन्नतापूर्वक सहन कर लेते है, परंतु भिक्षा में दोष लगने नहीं देते है।

गोचरी में क्या आएगा ? सब कुछ अनिश्चित होता है। कभी अनुकूल भिक्षा मिल सकती है, तो कभी प्रतिकूल भिक्षा भी हो सकती है।

सच्चा साधक मुनि भिक्षा के उन कष्टों को भी प्रसन्नता- पूर्वक सहन करता है, परंतु अनुकूल भिक्षा मिलने पर भी साधक मुनि को खुश नहीं होना है और प्रतिकूल भिक्षा मिलने पर भी थोडा भी नाराज नहीं होना है।

कटु वचनों को सहन करना

वर्तमान श्रमण जीवन में परीषह सहन करने के प्रसंग नहींवत् ही आते है।

प्राचीन समय में सभी रास्तों में सडके नहीं थी । कच्चे मार्गों में कांटे व कंकड की पीडा सहन करनी पडती थी ।

मार्ग में कहीं विहारधाम नहीं थे अतः गोचरी-पानी में भी तकलीफें रहती थीं । आज तो कई क्षेत्रों में विहारधाम बन गए हैं, अतः सहजता से भिक्षा मिल जाती है–गोचरी के कष्ट सहन करने नहीं पडते हैं । दैविक और तिर्यंचों के उपसर्ग-उपद्रव तो नहींवत् देखने को मिलते है ।

परंतु हाँ ! कभी कभार गुरु अथवा गुरु बंधुओं के कर्णकटु वचन सुनने को मिल सकते है ।

सभी का स्वभाव एक समान नहीं होता है । एक ही माँ की कुक्षी से पैदा हुए दो भाइयों के स्वभाव में भी भिन्नता हो सकती हैं तो एक ही गुरु का शिष्यवृंद तो भिन्न भिन्न परिवारों से आया होता है । कोई किसी राज्य में पैदा हुआ है तो दूसरा अन्य किसी राज्य में । एक शिष्य राजस्थानी है तो दूसरा शिष्य गुजराती या महाराष्ट्र का भी हो सकता है । ऐसे संयोगों में सभी के स्वभाव एक समान कैसे हो सकते है ?

किसी की शांत प्रकृति होती है, जो सामनेवाले के आक्रोश भरे शब्दों को प्रेम से निगल जाता है तो कोई छोटी-छोटी बात में भी उछल पडता है ।

हे मुनिवर ! ऐसे संयोगों में ही तुम्हारी परीक्षा है । कैसी भी परिस्थिति हो, तुम्हें अपने दिमाग को एकदम शांत रखना है । आक्रोश करना आसान है, परंतु उसका परिणाम खूब भारी है ।

कहते है **'क्रोध की एक चिनगारी हमारे वर्षों के संयम जीवन की साधना को खाक कर देती है ।'**

क्रोध की आग से बचने की खूब आवश्यकता है । अतः अपनी भूल होने पर गुरुदेव ठपका देते हो या कटु शब्द बोले हो तो उसे बडे प्रेम से सहन कर लेना चाहिए, परंतु गुरु का प्रतिकार नहीं करना चाहिए अथवा गुरु के सामने नहीं बोलना चाहिए ।

गुरु जब कटु शब्द बोले तब उनके भूतकाल में हुए उपकारों को याद करना चाहिये । उनके किए गए उपकारों को याद करोगे तो उनके सामने बोलने की या प्रतिकार करने की हिम्मत भी नहीं हो सकती है ।

क्रोध के कटु परिणाम

क्रोधः परितापकरः, सर्वस्योद्वेग-कारको क्रोधः ।
वैरानुसङ्गजनको क्रोधः, क्रोधः सुगति हन्ता ।।

अनंतज्ञानी सर्वज्ञ सर्वदर्शी तारक तीर्थंकर परमात्मा, चरम तीर्थपति भगवान महावीर प्रभु के शासन के परमार्थ को पाए हुए, 500-500 धर्मग्रंथ के प्रणेता वाचकवर्य श्रीमद् **उमास्वातिजी** म. ने **'प्रशमरति'** ग्रंथ में मोक्षमार्ग का वर्णन करते हुए **'क्रोध'** कषाय की भयंकरता बतलाते हुए कहा है कि यह क्रोध सर्वप्रथम स्वयं के जीवन में ताप-संताप को पैदा करता है, इतना ही नहीं, क्रोधी व्यक्ति अपने क्रोध द्वारा दूसरों को भी उद्वेग पैदा कराता है । यह क्रोध वैर की परंपरा को बढाता हैं और आत्मा की भावी सद्गति का नाश करता है ।

क्रोध क्यों आता है ?

सामान्यतया मानवी के जीवन में निम्न घटनाएँ होने पर क्रोध पैदा होता है-

1) अपेक्षा-नाश - किसी व्यक्ति के प्रति अपने दिल में किसी प्रकार की अपेक्षा होती है, उस अपेक्षा की पूर्ति नहीं होने पर शीघ्र क्रोध आ जाता है ।

❀ नौकर के पास अपनी अपेक्षा हो कि वह कल ठीक समय पर आकर दुकान खोल देगा और दुकान की सफाई कर देगा । परंतु, संयोगवश वह नौकर दूसरे दिन आया ही नहीं, ऐसी स्थिति में उस नौकर पर गुस्सा आए बिना नहीं रहेगा।

❀ ग्राहक से अपेक्षा रखी हो कि वह सोमवार तक अपनी बकाया रकम जमा कर देगा, परंतु संयोगवश वह ग्राहक ठीक समय पर रुपए जमा नहीं कराता है तो व्यापारी को गुस्सा आ जाता है ।

- 'पंचसूत्र' में ठीक ही कहा है - **'अवेक्खा अणाणंदे'** अपेक्षा यही दु:ख का मूल कारण है । जहां अपेक्षा टूटेगी, वहां गुस्सा आए

बिना नहीं रहेगा और गुस्सा आते ही अपनी चित्त प्रसन्नता लुप्त हो जाएगी ।

2) प्रतिकूलता - प्रतिकूल-परिस्थिति खडी होने पर व्यक्ति को गुस्सा आए बिना नहीं रहता है । भूख लगी हो और भोजन तैयार नहीं हो तो गुस्सा आ जाता है ।

रेल्वे स्टेशन पर समय पर पहुँचना हो, किंतु टेक्षी खराब हो गई हो तो व्यक्ति को मन ही मन गुस्सा आता है ।

भयंकर गर्मी हो और अचानक Light चले जाने से पंखे बंद हो जाते हैं । गर्मी से परेशान हो जाते हैं तो मन ही मन गुस्सा आ जाता है ।

प्यास लगी हो लेकिन पीने के लिए ठंडा पानी तैयार नहीं हो तो भी गुस्सा आ जाता है ।

चाय Ice cold ठंडी आ जाय तो भी गुस्सा आ जाता है ।

इस प्रकार प्रतिकूल परिस्थिति भी व्यक्ति को गुस्से में ला देती है ।

3) निष्फलता - अपने सोचे हुए कार्य में निष्फलता मिलने पर व्यक्ति क्रोधातुर हो जाता है ।

प्रेम में निष्फलता मिलती हैं और कई युवतियाँ आत्महत्या कर बैठती है ।

❑ परीक्षा में निष्फलता मिलने पर कई विद्यार्थी क्रोध में ट्रेन के नीचे सोकर आत्महत्या कर लेते हैं ।

क्रोध का परिणाम :–

1) जब चित्त में क्रोध पैदा होता है तो सर्वप्रथम व्यक्ति को भोजन की रुचि समाप्त हो जाती है । क्रोधी व्यक्ति को खाना पसंद नहीं पडता है । बच्चे जब नाराज होते है तब सर्वप्रथम खाना छोड देते हैं।

2) क्रोध आने पर बातचीत में सौम्यता समाप्त हो जाती है । क्रोधी व्यक्ति शांति से बात नहीं करेगा । वह धमाल करेगा, तोडफोड करेगा, नहीं बोलने के शब्द बोलेगा । इस प्रकार क्रोधी व्यक्ति की सौम्यता एकदम समाप्त हो जाएगी ।

3) क्रोध के साथ ही मुख पर की प्रसन्नता गायब हो जाएगी । जब व्यक्ति शांत चित्त से बैठा होता है, तब उसका फोटो अलग आता है और वो ही व्यक्ति जब आवेश में होता है, तब उसका चेहरा भयंकर हो जाता है । क्रोधी व्यक्ति को दर्पण दिखाया जाय तो उसे अपना ही चेहरा अत्यंत भयंकर दिखाई देगा ।

4) क्रोध के साथ ही विनय-विवेक समाप्त हो जाता है । छोटे बड़ों के सामने नहीं बोलने के शब्द बोल देता है । बडों के प्रति जो आदर भाव होना चाहिए, वह समाप्त हो जाता है । क्रोध के आवेश में लंबे पुराने संबंध भी टूट जाते है । मित्रों के साथ जो सौजन्यपूर्ण व्यवहार होना चाहिए, वह व्यवहार समाप्त हो जाता है ।

5) क्रोध का सबसे बडा नुकसान है कि उस व्यक्ति को बाद में पछताना पडता है । आवेश एक ऐसी चीज है, जिसमें व्यक्ति को कुछ भी भान नहीं होता है । आवेश जब उतर जाता है, तब अपने क्रिया-कलापों के प्रति दिल में पश्चात्ताप का भाव जगता है ।

6) समुद्र के पानी में मीठेपन की आशा व्यर्थ है, उसी प्रकार क्रोध की क्षणों में प्रसन्न रहना, बिल्कुल असंभव बात है ।

7) ज्यों ज्यों समय बीतता है, त्यों त्यों मुर्दे में दुर्गंध बढती है, उसी प्रकार मन में क्रोध का संग्रह किया होगा तो वही क्रोध आगे चलकर वैर में रुपांतरित हुए बिना नहीं रहता ।

नीम के पत्तों को ज्यों ज्यों उबाला जाएगा, त्यों त्यों उस पानी में कडवाहट बढती जाएगी, बस, उसी प्रकार किसी व्यक्ति के प्रति मन में ज्यों ज्यों क्रोध बढता जाएगा, त्यों त्यों वह क्रोध वैर की गांठ बनता जाएगा ।

क्रोध की आग को शांत करना तो भी आसान है परंतु वही क्रोध जब वैर की गांठ में रुपांतरित हो जाता है, फिर उसे तोडना अत्यंत ही कठिन हो जाता हैं ।

दुश्मन को समाप्त कर प्राप्त होने वाली शांति अल्पजीवी है, जब कि हृदय में से दुश्मनावट को समाप्त करने के बाद प्राप्त होने वाली शांति चिरंजीवी होती है ।

दुश्मन को समाप्त करने का आनंद क्षणिक है, जब कि हृदय में से दुश्मनावट की समाप्ति का आनंद दीर्घजीवी है ।

सारी दुनिया 'दुश्मन' को समाप्त करने की बात करती है, जबकि महावीर प्रभु अपने हृदय में रही दुश्मनावट को हटाने की बात करते है ।

क्रोध के आवेश में आकर छोटासा बालक अपनी माँ को लात भी मार देता है, परंतु उसका क्रोध क्षणजीवी होता है- थोडे ही समय बाद वह बालक माँ की गोद में सो जाता है । **बालक का क्रोध क्षणजीवी है, अतः वैर में रुपांतरित नहीं होता है ।**

क्रोध के प्रसंग में बालक जैसे बन जाय तो क्रोध को वैर में रुपांतरित करने से अपने आपको बचा सकते है ।

'उम्र' के अनुसार तो सभी के जीवन में **'बाल्यकाल'** आता है, परंतु बडे हो जाने के बाद भी बालक जैसी **'सरलता'** रखना बहुत ही कठिन बात है ।

अपनी भूल का हर व्यक्ति बचाव चाहता है ।

अपने हाथ से कांच का गिलास फूट जाय तो कहेगा, **'यह तो कांच का गिलास था, आज नहीं तो कल फूटने ही वाला था ।'** परंतु वो ही ग्लास जब नौकर के हाथ से फूट जाता है, तो **'अंधा है, दिखता नहीं है ।'** न मालूम कितनी बातें सुना देता है ।

आज हर व्यक्ति को अपना 'घर' बडा बनाने में रस है । मुंबई जैसे शहर में रूम में रहनेवाले को **'फ्लेट'** बनाने में रस है और Flat में रहनेवाले को **'बंगला'** बनाने में रस है परंतु अपने दिमाग को शांत बनाने में रस नहीं है ।

आवेश जब वैर में बदल जाता है, तब वो ही वैर आगे चलकर **'हिंसा'** (हत्या) का कदम उठाए बिना नहीं रहता है । जिसके दिल में आवेश है, वो आगे चलकर किसी की हत्या भी कर सकता है ।

पानी का स्वभाव ढाल की दिशा की ओर बहने का है, बस, इसी प्रकार अनादिकाल के अभ्यास के कारण इस जीव को क्रोध, वैर, ईर्ष्या आदि तुच्छ तत्त्वों में अधिक रस है, जबकि क्षमा, प्रेम, उदारता

आदि तत्त्व, महान होने पर भी उन तत्त्वों को अपने जीवन में अपनाने में अल्पराचि है । इसका मुख्य कारण यही है कि भूतकाल में अपनी आत्मा ने क्रोध, वैर, ईर्ष्या आदि तुच्छ तत्त्वों का खूब खूब अभ्यास किया है । उन तुच्छ तत्त्वों के तीव्र अभ्यास के कारण ही वे तुच्छ प्रवृत्तियाँ सहज हो जाती है, जब कि क्षमा, प्रेम, उदारता, गंभीरता आदि तत्त्वों का इस आत्मा को नहींवत् अभ्यास है, इस कारण उन तत्त्वों का सेवन कठिन लगता हैं और अवसर आने पर उन तत्त्वों को छोडने के लिए भी मन शीघ्र तैयार हो जाता है ।

क्रोध की क्षणों में भले ही शरीर में ताकत आ जायेगी, परंतु क्रोधी का मन तो कमजोर ही होता है ।

क्रोधी व्यक्ति अपना भान भूल जाता है कि `मैं कौन हूँ... और क्या कर रहा हूँ ?'

क्रोधी व्यक्ति आवेश में आकर दूसरों की शांति का भंग कर देता हैं, परंतु सच तो यह है कि क्रोधी व्यक्ति, क्रोध की क्षणों में अपनी ही शांति को खो बैठता है ।

क्रोध के साथ ही मुख पर की प्रसन्नता लुप्त हो जाती है ।

क्रोध के साथ ही नींद हराम हो जाती है । क्रोधी व्यक्ति को दूसरों को पछाडने में आनंद आता है ।

दुर्लभ ऐसा मानव जीवन तो अनादिकाल की चित्तवृत्तियों के परिमार्जन व परिवर्तन के लिए है, जीव मात्र के साथ निःस्वार्थ मैत्री के संबंध को स्थापित करने के लिए है, जब कि दुर्भाग्य है कि अधिकांश मानवी इसी अमूल्य जीवन में वैर की परंपराओं को बांधने में ही प्रयत्न करते हैं ।

दर्दी को देखकर उसके प्रति सहानुभूति पैदा होना सरल है, परंतु अपने ही दोषों के प्रति कठोर बनना कठिन बात है ।

अपने अहंकार को जब धक्का लगता है, तब व्यक्ति क्रोधाविष्ट बनता हैं, उस क्रोध के आवेश में व्यक्ति कुछ **'गलत'** करने के लिए तैयार हो जाता है ।

आग को जब सूखा घास मिलता है, तब वह फैलती है । बस, इस प्रकार क्रोध को जब शुष्क हृदय मिलता है, तब वह फैलता है ।

जिस ह्रदय में प्रेम, वात्सल्य और करुणा की नदी बहती हो, वह ह्रदय कभी क्रोधाविष्ट नहीं बन पाता है ।

क्रोध-विजेता

चौदह पूर्वधर महर्षि श्रीमद् शयंभवसूरिजी म. ने **'दस-वैकालिक'** सूत्र में संसार रुपी वृक्ष के मूल का वर्णन करते हुए कहा है -

''चत्तारि एए कसिणा कसाया,
सिंचंति मूलाइं पुणब्भवस्स ॥''

'ये चारों कषाय मिलकर आत्मा के पुनर्जन्म की परंपरा के मूल का सिंचन करते रहते हैं ।'

वृक्ष के अस्तित्व को बनाए रखने के लिए जड का अस्तित्व अनिवार्य है । वृक्ष की जड काट दी जाय तो वह वृक्ष लंबे समय तक टिक नहीं सकता है । जड़ कटने के साथ ही वृक्ष का अस्तित्व खतरे में आ जाता है । बस, इसी प्रकार क्रोध, मान, माया और लोभ रुपी चार कषाय आत्मा के संसार परिभ्रमण रुपी वृक्ष का सिंचन करते रहते है ।

जल से जड का सतत सिंचन किया जाय तो वह वृक्ष मजबूत बनता जाता है, बस, इसी कारण ये चारों कषाय आत्मा की भव-परंपरा को मजबूत करते रहते हैं ।

- विश्व-विजेता बनना सरल है ।
- क्रोध-विजेता बनना कठिन है ।

पुण्य और शस्त्र के बल से वासुदेव तीन खंड का अधिपति बन जाता है तो चक्रवर्ती छ खंड का अधिपति बन जाता है । 32000 मुकुटबद्ध राजा चक्रवर्ती के चरणों में नतमस्तक रहते हैं । अनेक देवतागण भी चक्रवर्ती का सानिध्य करते हैं परन्तु महाआश्चर्य है कि छह खंड जीतने वाला चक्रवर्ती भी अपने आप पर विजय प्राप्त नहीं कर पाता है । वह अंतरंग शत्रुओं के आगे घूटने टेक देता है । युद्ध में लाखों पर विजय प्राप्त करने वाला भी क्रोधादि कषायों के सामने हार खा जाता है । इसीलिए तो कहा गया है कि विश्व विजेता बनना सरल है, परन्तु क्रोध विजेता बनना अत्यंत कठिन है ।

अंग्रेजी में I हमेंशा Capital लिखा जाता है। वह I अहंकार का प्रतीक है। ईशु का क्रोस कहता है, I अभिमान को नष्ट करो। अहंकार का नाश किए बिना तुम परमात्मा के द्वार पर नहीं पहुँच सकोंगे।

क्रोध स्व-पर दाहक

किसी महर्षि ने ठीक ही कहा हैं -

'क्रोधो धर्म-द्रुमज्वालाजिह्व - स्वपरदाहकः।''

धर्म रुपी वृक्ष को जलाकर साफ कर देने वाला वह क्रोध स्व-पर उभय को जलाने वाला है।

''क्रोधे क्रोड पूरवतणुं संयम फल जाय,
क्रोध सहित तप जे करे ते तो लेखे न थाय।''

क्रोध के कारण व्यक्ति करोड पूर्व वर्ष के संयम को भी नष्ट कर देता है।

एक करोड पूर्व वर्ष तक निरतिचार चारित्र का पालन करना कितना कठिन कार्य है ? परन्तु क्रोध करके व्यक्ति उस संयम के महान् फल को हार जाता है। जिस प्रकार अग्नि का एक कण ढेर सारी लकडियों को जलाकर भस्मीभूत कर देता है, उसी प्रकार क्रोध करोडों वर्ष के संयम को नष्ट कर देता है।

क्रोध तो स्व-पर उभय को जलाने वाला है। क्रोध करने पर व्यक्ति की आंखे लाल हो जाती है, मुंह विकृत हो जाता है, होठ फडफडाने लगते है, शरीर कांपने लगता है और दिमाग पर से अंकुश हट जाता है.... इसके परिणाम स्वरुप व्यक्ति नहीं बोलने के शब्द बोल देता है और आवेश में बोले उन कटु शब्दों के द्वारा वह सामनेवाले व्यक्ति के दिल को भी जला देता है।

बाह्य अग्नि को जल के छंटकाव द्वारा शांत किया जा सकता है, परन्तु क्रोधी व्यक्ति के क्रोध की आग को शांत करना अत्यंत ही कठिन कार्य है।

कहा भी है **-अह्नैकेन हरत्येव तेजः षाण्मासिकं ज्वरः।**
क्रोधः पुनः क्षणेनापि पूर्वकोट्यार्जितं तपः।।

एक ही दिन का ज्वर छ मास की शक्ति को नष्ट कर देता है, जब कि क्रोध, क्षणभर में ही करोड पूर्व वर्ष के तप को भी जलाकर भस्मीभूत कर देता है ।

ब्रेक फेल (Brake Fail) गाडी किसी भी क्षण भयंकर दुर्घटना करा सकती है, बस, इसी प्रकार क्रोध की क्षणों में दिमाग पर से अंकुश हट जाता है और उसके परिणाम स्वरुप किसी भी क्षण भयंकर दुर्घटना घट सकती है ।

मानवी के दिमाग पर विवेक का अंकुश होना चाहिये और इसी के परिणाम स्वरुप दिमाग में बूरे विचार आ जाने के बावजूद भी व्यक्ति विवेक रुपी अंकुश के कारण बुरें कार्य करने से रुक जाता हैं, परन्तु क्रोध की क्षणों में दिमाग पर से विवेक का अंकुश दूर हो जाता है और इस कारण क्रोध की क्षणों में व्यक्ति नहीं बोलने के शब्द बोल देता हैं, नहीं करने योग्य कार्य कर डालता है ।

अधिकांशतः आत्म हत्याओं का मूल क्रोध की क्षणें ही होती है । क्रोधावेश में ही व्यक्ति आत्महत्या आदि के अयोग्य निर्णय कर डालता है ।

गीता में भी कहा है-

''क्रोधाद् भवति संमोह ।''

क्रोध से संमोह पैदा होता है और संमोह के कारण व्यक्ति स्मृति-भ्रष्ट बनता है, जिसके परिणाम स्वरुप बुद्धि का नाश होता है और बुद्धि नाश हो जाने से व्यक्ति विनाश के कगार पर आकर खडा हो जाता है ।

क्षमा करो और भूल जाओ !

किसी के अपराध को वचन से क्षमा कर देना आसान है किंतु वचन से क्षमा कर देने के बाद उसे मन से भूल जाना अत्यंत ही कठिन है ।

वचन से क्षमा कर देने के बाद भी मन के किसी कोने में अपराधी के अपराध की स्मृति रह जाती है, परिणाम स्वरुप कभी उसकी पुनः

स्मृति हो जाती है और क्षमा कर देने के बाद भी हमें वह व्यक्ति अपराधी नजर आता है ।

सचमुच, क्षमा कर देने के बाद अपराधी की भूल को भूल जाना चाहिये । भूल जाने से तात्पर्य है- अपराधी के अपराध से जन्य हृदय की कटुता को धो देना । क्षमा देने के बाद हृदय में किसी प्रकारी की कटुता नहीं रहनी चाहिये । यदि उसके बाद भी हृदय में कटुता रहती है तो समझना चाहिये कि हमने वास्तव में क्षमा दान नहीं किया है ।

वैर से वैर कभी शांत नहीं होता है । वैर का शमन तो निर्वैर अर्थात् मैत्री से ही संभव है ।

आग में ईंधन डालने से आग कभी शांत नहीं होती है बल्कि वह अधिक अधिक प्रज्वलित होती जाती है, आग की शांति के लिए तो जल का ही आश्रय लेना पडता है ।

बस, इसी प्रकार यदि आप वैर की आग को शांत करना चाहते हो तो आपको निर्वैर अर्थात् मैत्री का ही आश्रय लेना चाहिये । सचमुच, इस जगत् में अपना बुरा करने वाला कोई नहीं है । अपनी ही मलिन वृत्ति-प्रवृत्तियों के कारण अपना बुरा होता है, अतः यदि अपना भला चाहते हो तो अपने मन को मैत्री-प्रमोद-करुणा एवं माध्यस्थ्य भावना से ओतप्रोत करने का प्रयास करे ।

आग को जीवित रहने के लिए उसे अपना खुराक चाहिये । आग को यदि ईंधन न मिले तो वह आग शांत हुए बिना नहीं रहती है । आग में घी डालने से आग बढती है और आग पर जल का छंटकाव करने से वह आग शांत हो जाती है ।

क्रोध भी आग है । क्रोध की आग को यदि खुराक देंगें तो वह आग बढती जाएगी । क्रोध को शांत करना है तो उसे खुराक देना बंद करो, क्रोध धीरे-धीरे स्वतः शांत हो जाएगा ।

ईंधन को यदि बचाना है तो उसे आग से सर्वथा दूर रखना पडता है । इसी कारण तो पेट्रोल के टेंकर पर Danger or Highly Inflammable लिखा जाता है ।

जहाँ स्फोटक द्रव्य पडा होता है, वहां सतत भय बना रहता है,

एक छोटीसी चिनगारी भी उस स्फोटक द्रव्य में भयंकर दुर्घटना पैदा करने में सक्षम होती है। अत: आग की दुर्घटना से बचने के लिए ईंधन और चिनगारी को दूर ही रखना चाहिये।

क्रोध एक चिनगारी है और अहंकार, ईर्ष्या, अधैर्य, हठाग्रह, अपेक्षा आदि स्फोटक पदार्थ है, उन दोनों का समागम होने से संघर्ष की आग पैदा हुए बिना नहीं रहती है अत: संघर्ष की आग से बचने के लिए क्षमा का जल खूब जरुरी है।

जिस प्रकार आग की चिनगारी घास के ढेर पर गिर जाय तो वह घास के संपूर्ण ढेर को एक क्षण में जला देती है और वही चिनगारी यदि सूखे पत्थर पर गिरे तो थोडी ही देर में ईंधन के अभाव में शांत हो जाती है।

आग तभी बढती है, जब उसे योग्य खुराक मिलता है। क्रोध की आग तभी भडकती है, जब हम उसे उसका खुराक प्रदान करते हैं।

❀ अभिमान करके हम क्रोध को अपना खुराक प्रदान कर रहे होते है।

❀ **किसी का तिरस्कार या द्वेष करके हम क्रोध को ही खुराक दे रहे होते हैं।**

❀ हम कटु शब्दों का उच्चार करके अपने क्रोध को पुष्ट कर रहे होते हैं।

❀ **हम अपनी दोष दृष्टि के द्वारा क्रोध को ही समर्थन दे रहे होते हैं।**

❀ क्रोध की आग से बचना है तो क्रोध की पुष्टि हो, वैसी समस्त प्रवृत्तियों पर रोक लगाना जरुरी है।

कई व्यक्ति बहुत छोटी छोटी बातों में भी गुस्सा कर देते हैं और अपनी आत्म-शांति भंग कर देते है।

'चाय में शक्कर ज्यादा गिर गई...चाय ज्यादा मीठी हो गई' तुरंत ही गुस्सा आ जायेगा।

दाल में नमक कम गिरा...तुरंत ही दिमाग का पारा चढ जाएगा।

सचमुच, जीव-मैत्री की कीमत नहीं समझने वाले व्यक्ति ही क्षणिक व तुच्छ वस्तुओं के नाश में गुस्से का आश्रय लेते है।

यदि किसी की भूल से कोई वस्तु नष्ट हो गई हो.... तो क्या गुस्सा करने से वह वस्तु वापस आ जाएगी ?

जरा सोचे, गुस्सा करने से शायद वह व्यक्ति बदले में दूसरी वस्तु लाकर दे देगा, परंतु क्रोध में आकर आपने उस व्यक्ति के दिल पर जो चोट पहुँचाई है, उसका इलाज तो किसी प्रकार से संभव नहीं है ।

क्षणिक वस्तु को पाने के लिए आत्मा की गुण संपत्ति को नष्ट करने में कौनसी बुद्धिमत्ता है ? परंतु हर क्षेत्र में धन को ही कीमती समझनेवाले मैत्री का मूल्य कैसे समझ सकेंगे ?

आत्मा के गुण कीमती है, जब कि दुनिया की वस्तुएँ क्षणिक व नश्वर है, फिर भी आश्चर्य है कि सामान्यतया हर व्यक्ति दुनिया की क्षणिक वस्तुओं की कीमत अधिक समझता है ।

जो व्यक्ति आत्म-संपत्ति की उपेक्षा कर क्षणिक वस्तुओं को अधिक कीमती समझता है, उसका चित्त सदैव संक्लेशयुक्त होता है ।

जिस व्यक्ति का स्वभाव उग्र होता है, ऐसा व्यक्ति अपने व्यवहारिक जीवन में भी सफलता हासिल नहीं कर सकता ।

नौकर के साथ कटु व्यवहार करने वाला सेठ अपने नौकर का दिल जीत नहीं सकता ।

ग्राहकों के साथ मृदुता से पेश नहीं आने वाला सेठ ग्राहकों का दिल जीत नहीं सकता ।

मात्र आकृति या प्रकृति में ही सौम्यता पर्याप्त नहीं है । भाषा में भी सौम्यता अनिवार्य है । जिसकी भाषा में सौम्यता है, वह व्यक्ति किसी भी व्यक्ति के दिल को आसानी से जीत सकता है, जब कि जिसकी वाणी में कठोरता, कर्कशता व कटुता रही हुई है, वह व्यक्ति किसी के दिल को जीत नहीं सकता ।

कोयल जहां भी जाती है, अपनी प्रिय वाणी के द्वारा सभी के दिल जीत लेती है, जब कि कौआ किसी भी क्षेत्र में जायेगा वह अपनी वाणी की कटुता के द्वारा सभी के लिए तिरस्कार का पात्र बन जाएगा ।

घोडे की परीक्षा उसकी चाल से एवं गाय की परीक्षा उसके दूध

के आधार पर होती हैं, जब कि मनुष्य की परीक्षा उसकी भाषा के आधार पर होती है ।

सामान्यतया स्त्री का रुप आकर्षण का कारण होता है, परंतु उस रुप के साथ यदि उस स्त्री की वाणी में कठोरता व कर्कशता है, उसकी वाणी में तुच्छता और असभ्यता है, तो उसके रुप का आकर्षण संक्लेश और संताप का ही कारण बनेगा ।

वाणी के साथ-साथ विचारों में भी सौम्यता जरुरी है । जिसके विचारों में सौम्यता है, उसकी वाणी में सौम्यता आए बिना नहीं रहेगी ।

विचार और वाणी का घनिष्ट संबंध है । अच्छे विचार रखने से वाणी में भी सरलता और सौजन्यता आयेगी ।

जिसके विचारों में गंभीरता नहीं है, उसकी वाणी में गंभीरता नहीं आ सकती ।

क्रोध के आवेश में व्यक्ति किसी को दबाना चाहता है और अपने अधीन बनाना चाहता है । कदाचित् उस क्रोध में सफलता मिल जाय और सामनेवाला व्यक्ति दब जाय तब तो पूछना ही क्या ? - उसी समय दिल में अहंकार पैदा हो जायेगा ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि एक कषाय दूसरे कषाय को खींचकर लाए बिना नहीं रहता । .... परंतु उन कषायों का परिणाम अत्यंत ही घातक है ।

क्रोध के आवेश में ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती मरकर 7 वीं नरक में चला गया ।

क्रोध के आवेश में अग्निशर्मा ने गुणसेन को मारने का निदान किया ।

क्रोध के आवेश में स्कंदिलाचार्य ने दंडक मंत्री से बदला लेने का निदान किया । स्कंदिलाचार्य मरकर देवलोक में उत्पन्न हुए... परंतु उन्होंने पहला कार्य दंडक व उस समस्त नगर को भस्मीभूत करने का ही किया ।

शान्त प्रकृति में एक बडा आकर्षण होता है, जिससे अन्य व्यक्ति चुम्बक की भांति खींचे चले आते हैं । जिन व्यक्तियों की वाणी

में माधुर्य होता है, उनकी वाणी का अमृतपान करके श्रोतागण मंत्रमुग्ध हो जाते हैं ।

आकृति और प्रकृति में घनिष्ट सम्बन्ध है । कहावत भी है **``आकृतिर्गुणान् कथयति''** मनुष्य की आकृति उसके गुण-दोषों को कह देती है । मनुष्य जितना प्रकृति से सौम्य व शांत होगा, उतनी ही उसकी आकृति भी सौम्य होगी तथा जो व्यक्ति प्रकृति से कठोर होगा, उसकी मुखाकृति भयानक होगी ।

वाणी की कठोरता अनेक झगडे पैदा करती है, जब कि वाणी की मृदुता पैदा हुए झगडों को शांत कर देती है और नये झगडों के मूल को ही काट देती है ।

अपने नौकर के हाथ से कांच का एक गिलास फूट गया । प्रकृति से कठोर व्यक्ति तुरंत डांटना चालू कर देगा, ``अरे अन्धा है, दिखता नहीं है ? कीमती गिलास फोड डाला ।''

प्रकृति से सौम्य व्यक्ति कहेगा - अच्छा कोई बात नहीं, तुझे चोट तो नहीं लगी ? कितना अन्तर हैं कहने - कहने में ।

भूल होना मानव का स्वभाव है । यदि अपनी भूल को कोई क्षमा देता है तो अपने को कितना आनंद आता है । हम उस व्यक्ति का कितना उपकार मानते हैं, इतना ही नहीं `पुनः भूल न हो जाय' उसकी सावधानी भी रखते हैं ।

जो कार्य सैंकडों प्रयत्नों से भी सम्भव नहीं है, वह मृदु वाणी से अत्यंत सरल हो जाता है ।

संवत्सरी के दिन में भी संवत्सरी-प्रतिक्रमण का अत्यधिक महत्त्व है । संवत्सरी के दिन उपवास आदि तप बतलाए है, परंतु उपवास न हो सके तो उसका भी विकल्प बतलाया है । उपवास न हो सके तो आयंबिल भी कर सकते है । आयंबिल न हो तो एकासना भी कर सकते है । एकासना भी न हो तो बियासना कर सकते है । बियासना भी न होता हो तो साढ पोरिसी, पोरिसी और अंत में नवकारसी भी कर सकते है । तप में इतने ढेर सारे विकल्प बतलाए है, परंतु प्रतिक्रमण हेतु कोई विकल्प नहीं है । प्रतिक्रमण तो करना ही करना है ।

संवत्सरी प्रतिक्रमण में भी प्रधानता **``परस्पर-क्षमापना''** की है। सर्व जीवों के साथ यदि हृदय से क्षमापना नहीं की है तो उस प्रतिक्रमण का भी कोई अर्थ नहीं है अर्थात् संवत्सरी प्रतिक्रमण का भी प्राण तो परस्पर क्षमापना ही है।

सर्व जीवों के साथ क्षमापना की तो प्रतिक्रमण सफल, अन्यथा उस प्रतिक्रमण का भी कोई अर्थ नहीं है।

पर्युषण में महत्त्वपूर्ण कर्तव्य क्षमापना : पर्वाधिराज महापर्व में अहिंसा प्रवर्तन आदि पांच कर्तव्य बतलाए है, परंतु उन पांचों के केन्द्र में अर्थात् मध्य में तीसरा कर्तव्य अर्थात् परस्पर क्षमापना का ही है।

जिन मंदिर में अनेक प्रतिमाएं होती है, परंतु मंदिर तो उन्हीं भगवान का कहा जाता है जो Central में होते है, केन्द्र में होते है। मूलनायक भगवान को हमेंशा बीच में रखा जाता है। मंदिर में भगवान 5, 7, 9, 11 कितने भी हो सकते हैं, परंतु केन्द्र में तो मूलनायक भगवान को ही रखा जाता है। इसी प्रकार पर्युषण के 5 कर्तव्यों में केन्द्र के स्थान पर **``परस्पर-क्षमापना''** ही है। इस अपेक्षा से भी क्षमापना का महत्त्व बढ जाता है।

साधु वंदन में क्षमा प्रधानता :- गुरु भगवंत को वंदन करते समय **``पंचांग प्रणिपात सूत्र''** बोला जाता है। उसमें **``खमासमणो''** का अर्थ है **``हे क्षमाश्रमण।''** श्रम करे वह श्रमण कहलाता है। क्षमा धर्म को आत्मसात् करने के लिए जो निरंतर प्रयत्न करते है, वे क्षमा श्रमण कहलाते है अर्थात् साधु जीवन में क्षमा धर्म की ही प्रधानता है।

10 यतिधर्म में पहला क्षमा धर्म :- साधु के 10 यति धर्म है। उन 10 धर्मों में सर्व प्रथम क्षमा धर्म ही है अर्थात् साधु को अपने जीवन में मुख्यतया क्षमा धर्म की साधना करने की है। चार प्रकार के कषायों में पहला कषाय **``क्रोध''** है। उस क्रोध को जीतना, यही क्षमा धर्म की आराधना है।

तप का अजीर्ण

आग जहाँ उत्पन्न होती है, उस स्थान को सर्वप्रथम जलाती है। बस, इसी प्रकार क्रोध की आग जिस दिल में पैदा होती है, उस दिल / हृदय को सर्व प्रथम जलाती है।

आठ वर्ष न्युन पूर्व करोड वर्ष के संयम व तप की साधना से जो आत्म-वैभव प्राप्त किया हो, उसे क्रोध की आग क्षण भर में जला देती है।

ठीक ही कहा है-**क्रोधे क्रोड पूरवतणुं, संयम फल जाय,**
क्रोध सहित तप जे करे, ते तो लेखे न थाय ।

क्रोध सहित तप की कोई कीमत नहीं है । क्रोध तो तप का अजीर्ण है ।

तप से आत्मा में समता गुण पैदा होता है, परंतु यह क्रोध उस समता को ही जलाकर नष्ट कर देता है ।

क्रोध का कभी विश्वास मत करना, मित्र के स्वांग में भी आ जाय तो भी उससे दूर रहने में ही अपना आत्म-हित रहा हुआ है ।

क्रोध से दुर्गति

- ऋण (कर्जा) की कभी उपेक्षा मत करना ।
  लगभग पांच वर्ष में तो वह दुगुना हो जाता है ।
- **शरीर में पडे घाव का विश्वास मत करना,**
  उसको बढते देर नहीं लगती है ।
- आग का विश्वास मत करना, ईंधन मिलते ही वह क्षणभर में विकराल रुप ले लेती है ।

  परंतु, क्रोध का तो बिलकुल विश्वास मत करना ।

  क्रोध से होनेवाले अनर्थ का कोई पार नहीं है । घाव व आग से जो नुकसान होता है, उसकी पूर्ति कदाचित् शक्य है ।

क्रोध के अनर्थ

क्रोध के अनेक अनर्थ है । क्रोध शरीर व मन को तपाता है । क्रोधी का मन शांत नहीं, संतप्त होता है ।

क्रोध वैरभाव को बढावा देता है । उत्पन्न हुई आग पर तत्काल जल का छंटकाव किया जाय तो वह आग जल्दी शांत हो जाती है, अन्यथा भयंकर ज्वाला का रुप लेकर महा-अनर्थ पैदा कर देती है ।

क्रोध की आग उत्पन्न होते ही क्षमा के जल से बुझा देनी चाहिये । अन्यथा वह क्रोध की आग वैर के दावानल में बदलते देर नहीं लगती है ।

क्रोध के आवेग में आयुष्य का बंध पडे तो दुर्गति के ही आयुष्य का बंध पडता है । अनंतानुबंधी क्रोध आत्मा को सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट कराकर भयंकर नरक मे धकेल देता है ।

क्रोध, अशांति पैदा करता है । जहां, क्रोध की ज्वालाएँ भडक रही है वहाँ शांति की कल्पना शक्य नहीं है ।

क्रोध सर्वप्रथम वातावरण में रही शांति को भंग कर देता है ।

क्रोध और शांति को मेल नहीं है ।

वैर की ज्वाला, क्षमा का जल

खून से सने वस्त्र को खून से धोया नहीं जा सकता है । वस्त्र को धोने के लिए तो निर्मल जल चाहिये । उसी प्रकार वैर से वैर कभी शांत नहीं होता है, आग में ईंधन डालने से तो आग अधिक प्रज्ज्वलित होती है, उसी प्रकार वैर का बदला लेने से वैर की परंपरा का अंत नहीं आता है, बदले की भावना से तो वैर की ज्वाला और अधिक भडकती है ।

वैर की आग को शांत करना होगा, क्षमा के जल से । कोई आग बने तो तुम पानी बनो । आखिर जीत पानी की ही होगी, आग की कदापि नहीं ।

क्रोध की चिनगारी

आग की लपटें देखते ही देखते भयंकर विकराल रुप धारण कर लेती है । आग की चिनगारी तो मामूलीसी होती है, किंतु उसका परिणाम अत्यंत ही खतरनाक होता है । क्रोध की ज्वाला तो उस आग से भी अधिक खतरनाक है ।

आग का नुकसान इहलौकिक होता है, जिसकी पूर्ति अन्य प्रयत्नों से संभव है, किंतु क्रोध की ज्वालाओं से जो भयंकर नुकसान होता है, उसे पार पाना अत्यंत ही कठिन है । क्रोध का विपाक अत्यंत ही कटु है । मोक्ष के निकट दिखने वाली आत्मा को क्रोध अनंत संसारी बना देता है ।

संघर्ष का मूल

आज मेचिंग का जमाना है ।

कपडो के रंगों का मेचिंग ।

फर्नीचर के रंगों का मेचिंग !!

दीवार के रंगों का मेचिंग !!!

सब जगह `मेचिंग' जरुरी है, परंतु आश्चर्य है कि सर्वत्र रंगों में मेचिंग की बात करने वाला व्यक्ति अपने ही परिवार के साथ.. अपने ही मित्रों के साथ... अपने ही कुटुम्बीजनों के साथ... स्वभाव को मेच करने के लिए तैयार नहीं होता है । इस कारण रंगों का मेचिंग हो जाने के बाद भी स्वभाव मेचिंग नहीं होने से सर्वत्र संघर्ष का वातावरण देखने को मिलता है । संघर्ष मिटाना है तो मेच होना सीखें ।

सहिष्णु बनें

जीवन में शांति के लिए अनिवार्य गुण है - सहनशीलता । किसी के कटु शब्दों को, किसी के कटु व्यवहार को, जो सहजता से सहन कर लेता है, वहां संघर्ष स्वतः शांत हो जाता है और जहाँ सहनशक्ति नहीं होती हैं - वहां तुरंत ही आग भडक जाती है ।

असहिष्णु व्यक्ति आग के समान होता है, जबकि सहिष्णु व्यक्ति का जीवन जल के समान होता है । आग और जल के संघर्ष में जल ही विजयी बनता है । असहिष्णु और सहिष्णु व्यक्ति की लडाई में हमेंशा सहिष्णु ही विजयी बनता है ।

सहनशील बनें

जल्दबाजी में, नासमझी में, गलतफहमी में और आवेश में व्यक्ति अपने संतुलन को खो देता है । उसका दिमाग Unbalanced असंतुलित हो जाता है । असंतुलित दिमाग से जो निर्णय होगा - वह अपरिपक्व होगा । उसे बाद में बदलना पडेगा, अतः जीवन में खूब धैर्य रखे । सहिष्णु बने और किसी बात का निर्णय जल्दबाजी में न करे । तनावग्रस्त व्यक्ति का संतुलन बराबर नहीं होता है । आवश्यकता

हैं तराजु की भांति समतोल बनने की । जीवन में हार-जीत होती रहती है, परंतु उन सबके बीच अपना मन संतुलित रहना चाहिये ।

वैर की गांठ छोडें

कैंसर की गांठ अत्यंत खतरनाक होती है । दर्दी का दर्द अत्यंत असह्य हो जाता है । कैंसर की गांठ से भी अधिक भयंकर है वैर की गांठ । कैंसर से बचना शायद संभव न हो तो भी वैर की गांठ को तोडना तो अपने ही हाथ की बात है ।

मैत्री की कैंची से वैर की गांठ को दूर किया जा सकता है । कैंसर की गांठ पैदा ही न हो, शायद इससे बचना कठिन हो सकता है, परंतु वैर की गांठ पैदा ही न हो, वैसा प्रयास तो हम आसानी से कर सकते है । मैत्री के द्वारा हम वैसा वातावरण खडा कर सकते हैं, जिससे वैर की गांठे उत्पन्न ही न हो ।

शत्रुता नष्ट करों

दुश्मन को खत्म करने के लिए शस्त्र चाहिये किंतु दुश्मनाहट को खत्म करने के लिए स्नेह युक्त मैत्री चाहिये । शस्त्र से दुश्मन का देह खत्म हो सकता है, किंतु दुश्मनाहट जीवित रहेगी । दुश्मनाहट - जीवंत रही तो वह दुश्मन पुनः भव बदलकर अपने वैर का बदला लेगा ।

वास्तव में दुश्मन को खत्म करना है तो उसका श्रेष्ठ उपाय है 'दुश्मनाहट को खत्म करो ।' दुश्मनाहट - खत्म होते ही इस दुनिया में तुम्हारा कोई दुश्मन नहीं रहेगा । तुम निर्भय होकर यत्र-तत्र-सर्वत्र घूम सकोगे ।

क्षमा-धर्म

दुनिया में लोग मोह, भय और स्वार्थ से क्षमा धारण करते हैं । पत्नी व पुत्र के प्रति रहे मोह के कारण व्यक्ति उनकी भूलों को क्षमा कर देता है । सरकारी ऑफीसर के भय के कारण उस ऑफीसर के कटु शब्द भी प्रेम से सुन लेता है । **'नौकर को धमकाएंगे तो वह काम छोडकर चला जाएगा'** - इस भय से सेठ नौकर को क्षमा कर देता है । इस प्रकार की क्षमा का कोई विशेष मूल्य नहीं है । वास्तव में तो आत्म-

धर्म से क्षमा धर्म की आराधना करनी चाहिये। स्वभाव से जो व्यक्ति क्षमाशील बनता है, उसकी क्षमा स्व-पर उभय को लाभ करती है।

क्रोध- खतरनाक मोड

बंबई से नासिक जाते समय कसारा व इगतपुरी का घाट आता है। अत्यंत खतरनाक मोड वाले स्थलों पर स्थान - स्थान पर लिखा होता है -

'अपघाती वळण - वाहने सावकाश चालवा।'

पर्वतीय घाट पर खतरनाक स्थलों पर ड्राइवर यदि सावधानी नहीं रखता है तो भयंकर दुर्घटना की संभावना रहती है और संभवतः मौत भी हो सकती है। मौत के भय से हर व्यक्ति वहां सावधानी पूर्वक चलता है।

हाँ ! पर्वतीय घाट से भी अधिक खतरनाक है– **'क्रोध के निमित्तों की क्षणें।'**

उस समय यदि सावधान नहीं रहे और क्रोध की आग भडक उठी तो अनेक भवों का नुकसान हो सकता है। क्रोध की चिनगारी वर्षों की साधना को जलाकर नष्ट कर देती है।

अत्यंत ही नुकसान हो जाता है - 'क्रोध की उन अल्प क्षणों से।' अतः सावधान रहे ! जागरुक रहे ! क्रोध की उन क्षणों को निष्फल बनाने का पूरा-पूरा प्रयास करें।

सावधानी हटी ! दुर्घटना घटी !!

नेशनल हाइवे रोड पर जहाँ हजारों ट्रकें-गाडियाँ दौडती रहती है, उस मार्ग पर स्थान स्थान पर सूचनाएँ लगी होती है -

'सावधानी हटी - दुर्घटना घटी'

ड्राइवर की एक क्षण की भूल उसके और पेसंजरों के लिए मौत का कारण बन जाती है अतः ड्राइवर को प्रतिक्षण सावधान रहना जरुरी है।

बस, मुक्ति के मार्ग पर फुल स्पीड से दौड रहे साधक को भी प्रतिक्षण जागरुक रहना जरुरी है। क्रोध की एक पल साधना मार्ग की

भयंकर दुर्घटना है, जो साधक को 14 राजलोक के अग्रभाग पर पहुँचाने के बजाय 14 राजलोक के तलभाग में 7 वीं नरक और निगोद में गिरा देती है ।

जहाँ प्रगति है, वहां सावधानी जरुरी है । साधना मार्ग में क्रोध का एक्सिडेंट न हो जाए, इसके लिए आत्म-जागृति अनिवार्य है ।

Stop, Look & Go

रेल्वे क्रॉसिंग आदि कई स्थानों पर यह वाक्य लिखा होता है -

Stop, Look & Go

रुको, देखो, और फिर आगे बढ़ो ।

मुक्ति-मार्ग की साधना के मार्ग में कहीं क्रोध का निमित्त खड़ा हो जाय तो ज्ञानी महापुरुष हमें सावधान करते हुए कहते है -

`रुक जाओ ! क्रोध के परिणाम का विचार करो और फिर आगे का काम करो ।'

क्रोध की पलों में क्रोध के परिणाम का विचार तुम्हारे क्रोध को शांत कर देगा । साधक इंसान भी अपने जीवन में भयंकर क्रोध कर बैठता है ।

क्यों ?

परिणाम का विचार नहीं है ।

कडकडाहट की भूख लगी होने पर भी व्यक्ति जहरवाले लड्डू नहीं खाएगा । क्यों ? उसे मौत के परिणाम का विचार है ।

तो फिर साधना-जीवन में क्रोध के परिणाम का विचार क्यों नहीं ?

क्रोध से वैर का जन्म

पति के संबंध से पत्नी पुत्र को जन्म देती है ।

बस, इसी प्रकार क्रोध के संबंध से आत्मा **`वैर'** रुपी पुत्र को जन्म देती है ।

`ईर्ष्या'** उस **`वैर' रुपी पुत्र का अच्छी तरह से पालन पोषण करती है ।

यदि आप चाहते है कि `इस जगत् में मेरा कोई दुश्मन न रहे ।'

तो आप **'वैर'** को जन्म देने वाले क्रोध के साथ अपना संबंध तोड दीजिए ।

जिन-जिन आत्माओं ने अपने जीवन में क्रोध के साथ अपना संबंध तोडा, उन-उन आत्माओं ने प्राणी मात्र को अपना मित्र बना दिया ।

अब उनका कोई दुश्मन नहीं रहा ।

क्रोध की कालिमा !!

चित्रकार ने खूब महेनत करके एक सुंदर चित्र तैयार किया हो, परंतु उस चित्र पर एक कालिमा पोत दी जाय तो पूरा चित्र खराब हो जाता है, उस चित्र का कोई मूल्य नहीं रहेगा ।

बस, इसी प्रकार क्रोध की कालिमा अपने मन, वचन और काया को बिगाड देती है ।

- क्रोध से मन कलुषित हो जाता है ।
- **क्रोध से वाणी कर्कश/कठोर/ निष्ठूर हो जाती है ।**
- क्रोध से काया संतप्त हो जाती है ।
- **पत्थर का प्रहार सिर्फ काया पर घाव पैदा करता है, जबकि क्रोध की कालिमा मन, वचन और काया तीनों को भयंकर नुकसान पहुँचा देती है ।**

सावधान रहे ! कहीं क्रोध की कालिमा तुम्हारे मन, वचन और काया को दूषित न कर दे ।

Anger breeds Poison in you Blood

'जहर खाने से आदमी मरता है ।' यह बात सारी दुनिया जानती है ।

परंतु, परम ज्ञानी महापुरुषों का कथन है कि,

यह क्रोध तुम्हारे भीतर जहर पैदा कर देता है । जहर तो एक ही सुहाग को लुटता है, जब कि यह क्रोध तो जनमोजनम तक आत्मा को रुलाता है, फिर भी आश्चर्य है कि इन्सान इस **'शाश्वत सत्य'** को मानने के लिए तैयार नहीं है । उसे तो यह क्रोध **'दोस्त'** ही प्रतीत होता है ।

क्रोध की सिफारिश करते हुए वह कहता है,'It is Control Power'.

यह तो अपना **'कंट्रोल-पॉवर'** है। **'क्रोध करता हूँ, तो परिवार में सब दबे रहते है। यदि क्रोध छोड दूँ तो सब सिर पर चढ़ जाए।'** ऐसे इन्सान को भला कौन समझाएगा कि परिवार तुम्हारें क्रोध से नहीं, तुम्हारे पुण्य के सहयोग से दबा हुआ है।

मायावी की क्षमापना में दम नहीं है

साधना मार्ग में आगे बढना है तो सबसे पहली शर्त है - **'हृदय से सरल बनो।'**

हृदय के किसी कोने में कहीं गांठ न हो, कहीं कपट न हो, कहीं माया न हो। मायावी व्यक्ति की क्षमापना का कोई अर्थ नहीं है। उसकी क्षमापना तो सिर्फ लोक रंजन के लिए होती है। उसका त्याग, अर्थ-काम की लालसाओं से भरा होता है। बालक की भांति जो सरल है, निष्कपट है, ऐसा साधक ही साधना-मार्ग में प्रगति कर सकता है।

क्रोध से बचने का उपाय

क्रोध करने से व्यक्ति को अनेक बुरे परिणाम भुगतने पड़ते हैं। क्रोध से द्वेष पैदा होता है। कलह-क्लेश, वैर भाव पैदा होता है। क्रोध से शारीरिक नुकसान होता है। क्रोध हमारे जीवन पर खूब बुरा प्रभाव ड़ालता है।

1) बाह्य जीवन पर प्रभाव :- क्रोध करने से हमारे भीतर रहा द्वेष भाव प्रकट होता है, वही द्वेष आगे चलकर वैर का रूप लेता है। क्रोध से वैमनस्य बढ जाता है। क्रोधी का जीवन अशांत और अस्त-व्यस्त हो जाता है। क्रोधी व्यक्ति आवेश में न बोलने के शब्द बोल देता है उपकारी के उपकार को भूलकर भी उनके प्रति अयोग्य वर्तन कर देता है। क्रोध में व्यक्ति अपनी प्रतिष्ठा भी खो देता है।

क्रोध रूपी आग प्रेम, विनय और विवेक को जला देती है, क्रोधी के साथ कोई व्यवहार करना नहीं चाहता है।

2. शारीरिक नुकसान :- मनोवैज्ञानिकों की राय है कि कई

दिनों तक काम करने से जो श्रम लगता है, वह श्रम थोड़ी देर क्रोध करने से लगता है।

क्रोध से खून में विष पैदा होता है। जठराग्नि मंद हो जाती है। क्रोध से क्षय व अजीर्ण होता है। क्रोध से मन की प्रसन्नता नष्ट हो जाती है।

3. आध्यात्मिक नुकसान :- क्रोध करने से मन में तीव्र अशुभ भाव पैदा होते हैं। नवीन अशुभकर्मों का बंध होता है। पूर्व में उपार्जित पुण्य कर्म भी नष्ट हो जाता है। क्रोध से स्मरणशक्ति का नाश होता है। क्रोध में व्रत भंग भी हो जाता है।

4. बाल-स्वभाव चिंतन :- क्रोध करना यह बालिश-चेष्टा है। जैसा-तैसा बोलना यह मूढ़ जीव का स्वभाव है। अपने ऊपर किसी को क्रोध करते हुए देखकर सोचें कि यह तो मूढ़ पुरुषों का स्वभाव है अतः मुझे उसका प्रतिकार करने की क्या आवश्यकता है ? सामने वाला व्यक्ति कुछ बोल रहा हो तो सोचे, **``उसके बोलने से मुझे क्या नुकसान है ? वह मुझे मार तो नहीं रहा है।''** मार रहा हो तो सोचें, **``यह मेरे प्राण तो नहीं ले रहा है।''** कोई प्राण ले रहा हो तो सोचें, **``वह मुझे धर्म से भ्रष्ट तो नहीं कर रहा है।''** इस प्रकार विचारकर अपने मन को शांत करने की कोशिश करनी चाहिए।

5. कर्मफल चिंतन :- कोई व्यक्ति अपनी निंदा करता हो या अपने ऊपर गुस्सा करता हो तो सोचें, ``मेरे अशुभकर्म का उदय है। मेरे पापकर्म के उदय बिना मेरा कोई कुछ भी बिगाड़ नहीं सकता है। अतः दोषित वह नहीं है, दोषित मैं स्वयं ही हूँ। इस प्रकार विचार कर अपने मन को शांत करने की कोशिश करनी चाहिए। हमने स्वयं ने कर्म का बंध किया है, अतः उस कर्म की सजा भी हमें ही भुगतनी चाहिए। अपनी निंदा करनेवाला तो निमित्त मात्र है, दोष तो मेरे ही कर्मों का है।

6. क्षमागुण चिंतन :- क्षमा रखने से कितना फायदा होता है, इस बात का खूब चिंतन करना चाहिए।

क्षमा रखने से मानसिक स्वस्थता प्राप्त होती है। अन्य का अपने ऊपर प्रेम बढ़ता है, अशुभ पाप कर्मों का नाश हो जाता है। नवीन पुण्यकर्म का बंध होता है।

क्षमा के बिना अन्य गुण टिकते नहीं हैं । क्षमा तो सब गुणों की आधार शिला है । जल रहित नदी की भाँति क्षमा के बिना अन्य गुण शोभा नहीं देते हैं ।

क्रोध यह खुद को ही जलानेवाली आग है अर्थात् क्रोधी व्यक्ति खुद ही भीतर से जलता रहता है ।

अपने भीतर जब हिंसक भाव-कठोर भाव, क्रूर भाव होता है, तभी क्रोध पैदा होता है ।

क्रोध से खून गर्म होता है, स्नायुओं में खींचाव होता है और शरीर में कई रासायनिक परिवर्तन होते हैं, जब हमारा शरीर उस रासायनिक दबाव को सहन नहीं कर पाता है, तब हम क्रोध से काँपने लग जाते हैं ।

जहाँ प्रकाश होता है, वहाँ अंधकार नहीं रहता है । जहाँ क्रोध होगा, वहाँ विवेक नहीं रहेगा । जब व्यक्ति क्रोध करता है, तब विवेक उसका साथ छोड़ देता है ।

क्रोध करने से सामनेवाले को नुकसान हो या न हो, स्वयं को तो अवश्य नुकसान होता ही है । सामनेवाले को तो तभी नुकसान होगा, जब वह क्रोध से प्रभावित होगा । यदि वह व्यक्ति क्रोध से प्रभावित नहीं होता हो तो उसको कोई नुकासन नहीं होगा ।

क्रोध से अपना स्वास्थ्य जलकर खाक हो जाता है । क्रोधी व्यक्ति अनिद्रा के रोग से पीड़ित हुए बिना नहीं रहता है ।

भूख पैदा करने के लिए जो आवश्यक रस आमाशय में इकट्ठे होते हैं, वे क्रोध की आग में जल जाते हैं, अतः भूख मर जाती है और क्रोध की अवस्था में आदमी को भूख का अनुभव नहीं होता है । इसी कारण क्रोध आने पर बच्चे व महिलाएँ खाना छोड़ देती है ।

क्रोध करने से खून में विष का प्रभाव बढ जाता है और रक्त संचार तीव्र हो जाता है । इसीलिए क्रोध के समय दिल की धड़कन बढ जाती है और दिमाग भी गर्म हो जाता है ।

2 नम्र बनें

विनय-नम्रता यह तो जिनशासन का मूल है। वृक्ष टिकता है-जड के आधार पर !

जड ही यदि कमजोर है तो वह वृक्ष टिक नहीं सकता है।

जिनशासन की आराधना करनी है तो जीवन में विनय गुण को आत्मसात् करना ही होगा।

जीवन में होनेवाली सभी आराधनाओं का मूल विनय है।

जीवन में तप-त्याग और संयम-स्वाध्याय आदि बहुत कुछ हो, परंतु विनय नहीं है तो सब बेकार है।

इसी कारण तो जैन शासन में सर्व प्रथम बालक को **'नवकार मंत्र'** सिखाया जाता है। इस महामंत्र का भी पहला पद नमो अर्थात् **'विनय'** ही है।

विनय तो सभी गुणों का प्रवेश द्वार है। जैसे किसी भी मकान में प्रवेश करना हो तो **'द्वार'** से ही प्रवेश कर सकते है, उसी प्रकार जीवन में गुणों की प्राप्ति करना हो तो **'विनय'** के माध्यम से ही कर सकते है।

'प्रशमरति' में लिखा हैं–**'विनय फलं शुश्रुषा'–**विनय का फल गुरु की सेवा है। जो विनीत हो, वही गुरु की सेवा कर सकता है।

जो अभिमानी-अक्कड होगा, वह गुरु की क्या सेवा करेगा ?

– जो गुरु की सेवा करता है, उसे गुरुदेव प्रसन्न होकर श्रुतज्ञान प्रदान करते है अर्थात् गुरुसेवा का फल श्रुतज्ञान की प्राप्ति है।

श्रुतज्ञान का फल पापों से विरति है, क्योंकि ज्ञान से ही कर्तव्य अकर्त्तव्य की भेदरेखा स्पष्ट होती है। जो कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य की भेद रेखा को अच्छी तरह से समझता हो, वही अकर्त्तव्य का त्यागकर कर्त्तव्य का पालन कर सकता है।

जो ज्ञानी होगा, वही पापों का त्याग कर सकेगा जो पापों का त्याग करता हैं, वही अपने जीवन में अशुभ आश्रवों का त्याग कर सकेगा।

जो व्यक्ति अपने जीवन में आश्रव द्वारों को बंद करेगा, वही व्यक्ति अपने जीवन में संवरधर्म की आराधना कर सकेगा। संवर का फल तप है और तप का फल कर्मों की निर्जरा है।

निर्जरा का फल कर्म का नाश है और जब कर्म नष्ट हो जाएंगें तो वह आत्मा अपने भव भ्रमण रुप संसार का भी नाश कर सकेगी ।

जिस आत्मा ने अपने भव भ्रमण का अंत ला दिया, वह आत्मा शीघ्र ही शाश्वत सुख परमानंद की भोक्ता बन जाएगी ।

इससे स्पष्ट है कि आत्मा के परमानंद का मूल बीज **विनय** ही है ।

समर्पित शिष्य अपने उपकारी गुरुदेव के प्रति अत्यंत ही नम्र होता है ।

– गुरु की हर आज्ञा को वह शिरोधार्य करता है ।

निरभिमानता अर्थात् नम्रता । जो अपने से अधिक ज्ञानी है, वयोवृद्ध हैं, अपने से अधिक चारित्र पर्यायवान् हैं, उनके प्रति नम्रतापूर्ण व्यवहार करना चाहिए । उनका आदर-बहुमान रखना चाहिए । उनकी सेवा-शुश्रूषा करनी चाहिए । जन्मदाता, शिक्षा-दाता और धर्म-दाता गुरु के प्रति सदैव नम्र भाव से रहना चाहिये । **'विनय'** तो सर्व गुणों की प्राप्ति का मूल द्वार है । विनय से ही विद्या और चारित्र की प्राप्ति होती है । विनयहीन व्यक्ति न ज्ञान पा सकता है और न ही प्राप्त ज्ञान को पचा सकता है ।

व्यक्ति जिस वस्तु का अभिमान करता है, वह वस्तु उसके लिए भविष्य में दुर्लभ बनती है, अतः वर्तमान जीवन में जो कुछ शक्ति-समृद्धि प्राप्त हुई हो, उसका लेश भी अभिमान नहीं करना चाहिए ।

हरिकेशी ने पूर्व भव में जाति का अभिमान किया था तो उनका जन्म चाण्डाल कुल में हुआ ।

मरीचि ने कुल अभिमान किया था तो उन्हें एक कोटाकोटि सागरोपम तक संसार में परिभ्रमण करना पड़ा ।

श्रेणिक ने बल का अभिमान किया तो उन्हें नरक की भयंकर यातनाएँ सहन करनी पड़ी ।

सनत्कुमार चक्रवर्ती ने रुप का अभिमान किया तो उसके शरीर में भयंकर रोग उत्पन्न हो गए ।

कूरगडु मुनि ने पूर्व भव में तप का अभिमान किया था, जिसके फलस्वरुप उन्हें तप में भयंकर अन्तराय पैदा हुआ ।

✻ दशार्णभद्र ने ऋद्धि का अभिमान किया था, परन्तु इन्द्र की समृद्धि देखकर उसे प्रतिबोध हो गया।

✻ स्थूलिभद्र ने विद्या / ज्ञान का अभिमान किया था, जिसके फलस्वरुप वे 11 से 14 पूर्व के अर्थ-ज्ञान को प्राप्त न कर सके।

✻ सुभूम चक्रवर्ती ने लाभ का अभिमान किया तो वह सागर में डूबा और सब कुछ खो दिया। संसार के समस्त पदार्थ, समस्त ऋद्धियां अनित्य हैं, अतः उनका लेश भी अभिमान नहीं करना चाहिए।

वाचकवर्य उमास्वातिजी म. ने प्रशमरति ग्रंथ में बहुत ही सुंदर बात की हैं कि, शास्त्र अर्थात् जिन वचनों के अभ्यास के बिना अपनी आत्मा का सच्चा हित नहीं है और शास्त्रों का अभ्यास गुरु की अधीनता का स्वीकार करने से ही हो सकता है, अतः मोक्षाभिलाषी आत्मा को गुरु की आराधना में सदैव तत्पर रहना चाहिए।

गर्मी की ऋतु में मलयाचल पर्वत से चंदन की सुगंध से मुक्त ठंडा पवन बहता है तो वह मन को प्रसन्नता से भर देता है।

बस, अपनी भूल होने पर गुरु के मुख से निकलते कडवे शब्दों को भी शिष्य बडे प्रेम से स्वीकार कर लेता है, वह अपने गुरु का लेश भी प्रतिकार नहीं करता है।

सुशिष्य तो मानता है कि गुरुदेव ने मेरी भूल बताकर मुझ पर महान उपकार किया है। यदि गुरुदेव मुझे भूल नहीं बताते तो जीवन में निरंतर उस भूल का पुनरावर्तन होता रहता, परंतु गुरुदेव ने मेरी भूल बताकर मुझे भूल सुधारने का अवकाश दिया है। गुरुदेव के इस महान उपकार को मैं भूल नहीं सकता हूँ।

`जो गुरु के प्रति अत्यंत नम्र होता है, उसे गुरु की सेवा करने का मौका मिलता है।

जो गुरु की सेवा करता है, उसे सहज ही श्रुतज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम हो जाता है अतः उसे ज्ञान गुण की प्राप्ति होती है।

सम्यग्ज्ञान का फल विरति अर्थात् पाप प्रवृत्ति से निवृत्ति है विरति का फल आश्रव निरोध अर्थात् संवर की प्राप्ति है। संवर का फल

तप की प्राप्ति है । तप से कर्मों की निर्जरा होती है । कर्मों की निर्जरा का अंतिम फल मोक्ष की प्राप्ति है । इस प्रकार सभी प्रकार के कल्याणों का मूल विनय गुण की आराधना है ।

अनर्थकारी अहंकार

श्रुतशील-विनय-संदूषणस्य, धर्मार्थ-काम-विघ्नस्य ।
मानस्य कोऽवकाशं, मुहूर्तमपि पण्ड़ितो दद्यात् ।।

अर्थ : श्रुतज्ञान, शील (सदाचार) तथा विनय को दूषित करनेवाले, धर्म-अर्थ और काम में विघ्न करने वाले मान को एक मुहूर्त मात्र के लिए भी कौन पंड़ित पुरुष अवकाश देगा ?

थोड़ी देर के लिए भी अहंकार करने जैसा नहीं है । अहंकार तो बहुत ही खतरनाक है । अहंकारी का ज्ञान भी दूषित बनता है । बहुत ज्ञानी हो और साथ में अहंकारी हो तो लोग उसकी निंदा ही करेंगे । लोग कहेंगे ``अरे ! यह तो अहंकार का पुतला है ।''

ज्ञानी का ज्ञान भी लोक में तभी प्रशंसा का पात्र बनता है जब वह विनम्र होता है । ज्ञानी का ज्ञान भी लोक में तभी उपकारक बनता है, जब वह नम्र होता है । विनीत ज्ञानी के पास से सभी ज्ञान पाना चाहते हैं, जो ज्ञानी अहंकारी होता है, लोग उससे दूर भागने की कोशिश करते हैं ।

शील अर्थात् सद् आचरण ! जिनशासन की पवित्र धर्मक्रियाओं का पालन करनेवाला व्यक्ति शीलवान् कहलाता है । सुंदर धार्मिक क्रियाओं को करनेवाला भी जब अहंकारी होता है, तब उसकी श्रेष्ठ धर्मक्रियाएँ भी प्रशंसा-पात्र नहीं बनती हैं । अभिमान से ``शील'' भी दूषित बनता है ।

जो अहंकारी होगा, उसमें विनय गुण का अभाव होगा । इस प्रकार अहंकार श्रुतज्ञान, शील और विनय इन तीनों को दूषित करता है । अहंकार के इतने ही अनर्थ नहीं हैं । यह अहंकार तो धर्म, अर्थ और काम, इन तीनों में अंतराय ही पैदा करने वाला है ।

अहंकारी व्यक्ति अच्छी तरह से सद्धर्म की आराधना भी नहीं कर पाता है। व्यापार आदि अर्थोपार्जन की प्रवृत्ति में भी व्यक्ति को नम्र बनना पड़ता है, जो व्यापारी अहंकारी होता है, ग्राहक उसके पास आने से ही कतराएगा। अहंकारी-पुरुष, काम-पुरुषार्थ में भी सफलता प्राप्त नहीं कर पाता है।

रूप का अभिमान न करे

हे पुण्यात्मन् !

पूर्व जन्म के किसी पुण्योदय से तुझे सुंदर रूप मिला है, परंतु उस रूप का तुम भूल से भी अभिमान मत करना।

जिस व्यक्ति को अपने सुंदर रूप का अभिमान होता है, वह रूपहीन व्यक्ति को देखकर उसका तिरस्कार किए बिना नहीं रहता है।

मानव देह के सुंदर रूप का भी अभिमान करने जैसा नहीं है, क्योंकि यह सुंदर रूप भी क्षण-विनश्वर है...यह सुंदर रूप भी सदाकाल टिकनेवाला नहीं है। आज नहीं तो कल अवश्य ही नष्ट हो जाने के स्वभाववाला है।

सुंदर रूप के पीछे भी दो दुश्मन तो लगे हुए हैं। वे दो दुश्मन हैं, रोग और वृद्धावस्था।

काया में रोग पैदा होता है और उसके साथ ही देह का सौंदर्य समाप्त हो जाता है। रोग का सीधा प्रभाव चेहरे पर होता है। रोग से काया तो दुर्बल होती ही है, इसके साथ ही रूप भी निस्तेज हो जाता है।

रोग के बाद काया का दूसरे नंबर का दुश्मन है-वृद्धावस्था।

जब काया वृद्धावस्था से घिर जाती है, तब उसका पूरा प्रभाव पाँचों इन्द्रियों पर गिरता है। वृद्धावस्था के साथ ही कान कमजोर हो जाते हैं। कानों की श्रवण शक्ति नष्ट होने लगती है। वृद्धावस्था में आँखों का तेज भी कम हो जाता है। पैर लड़खड़ाने लगते हैं, हाथ कमजोर हो जाते हैं। इस प्रकार वृद्धावस्था में काया की कमजोरी के साथ-साथ देह का रूप भी समाप्त हो जाता है। जवानी में जो चेहरा अत्यंत ही सुंदर व आकर्षक लगता था, वृद्धावस्था के कारण वही चेहरा बीभत्स लगता है।

जवानी में रूपवान व्यक्ति अपने घर से बाहर निकलते समय बार बार अपना मुँह शीशे में देखता है, परंतु वृद्धावस्था से जब चेहरा निस्तेज हो जाता है, तब वही व्यक्ति अपना मुँह शीशे में देखने से कतराता है ।

वृद्धावस्था ने रूप को बिल्कुल समाप्त कर दिया । सुंदर रूप के साथ ये दो दुश्मन जुड़े हुए हैं, अतः उस रूप का अभिमान करने जैसा नहीं है ।

कुदरत का यह नियम है कि व्यक्ति जिस वस्तु का अभिमान करता है, भविष्य में वही वस्तु उसके लिए दुर्लभ हो जाती है अर्थात् जो रूप का अभिमान करता है, भविष्य में वह कुरूप बनता है ।

गोरी चमड़ी का तुम गर्व करते हो, परंतु उस चमड़ी के भीतर क्या रहा हुआ है, उसका जरा विचार करना । इस चमड़ी के भीतर जो हड्डी, मांस, चर्बी, मल, मूत्र आदि गंदे पदार्थ रहे हुए हैं, वे कितने बीभत्स हैं । ऐसे बीभत्स पदार्थों से मढी चमड़ी का क्या गर्व करना ?

बल का अभिमान न करें

हे पुण्यात्मन् !

महान् पुण्योदय से अर्थात् पूर्व जन्म के वीर्यांतराय कर्म के क्षयोपशम से तुझे इस जीवन में शारीरिक बल की प्राप्ति हुई है । गत जीवन में जाने-अनजाने में भी प्रभु की आज्ञापालन में शारीरिक शक्ति का सदुपयोग किया होगा, उसी के फलस्वरूप इस जीवन में विशिष्ट काय-बल की प्राप्ति हुई है...अब इस जीवन में पुण्योदय से प्राप्त इस काय-बल का अभिमान करने जैसा नहीं है ।

``अभिमान तो पतन की सीढ़ी है ।''

बलवान व्यक्ति जब अभिमान का शिकार बन जाता है, तब वह कमजोर को सताता है, कमजोर को दबाने की कोशिश करता है । कमजोर व्यक्ति को हैरान-परेशान करता है । कमजोर का तिरस्कार करता है, कमजोर को हैरान करके खुश होता है ।

याद रखना, कर्म सत्ता के पास पूरा-पूरा न्याय है । तुम अपने

जीवन में जो कुछ भूलें करोगे, उसकी सजा तुम्हें इस जीवन में भी भुगतनी पड़ सकती है, कदाचित् इस जीवन में उस पाप की सजा नहीं हुई तो अगले जन्म में या अन्य जन्मों में उस पाप की सजा अवश्य भुगतनी पड़ेगी ।

कुदरत के दरबार में देर है, लेकिन अंधेर नहीं है ।

जरा सोचना, तुम्हें जो काय-बल मिला है, वह बल भी सदा काल कहाँ टिकनेवाला है । रोग और वृद्धावस्था इस बल को समाप्त कर देती हैं । बलवान व्यक्ति भी एकदम कमजोर हो जाता है ।

महाकाय हाथी को भी जब तेज बुखार आता है, तब वह भी बिल्कुल कमजोर हो जाता है । उसका बल कहीं चला जाता है, अतः अपने बल को अस्थिर जानकर उसका लेश भी अभिमान मत करना ।

जवानी में जो सांड़ अपना पराक्रम दिखलाता है, वही सांड़ जब वृद्ध हो जाता है, तब उसका बल कहीं गायब हो जाता है । एक मक्खी को उड़ाने की भी उसमें ताकत नहीं रहती है ।

शारीरिक बल तभी तक सुरक्षित है, जब तक व्यक्ति रोग और वृद्धावस्था का शिकार नहीं हुआ हो ।

रोग का शिकार होते ही वह बल कहीं गायब हो जाता है ।

याद रखना-**``दुनिया में सेर के ऊपर सवा सेर होता ही है ।''** तुम्हारे पास बल है परंतु दुनिया में तुम से भी बलवान् व्यक्ति मिल जाएंगे, अतः उस बल का तुम व्यर्थ ही अभिमान करते हो ।

जिस श्रेणिक ने अपनी ताकत का प्रदर्शन कर गर्भवती हरिणी को एक ही बाण से मौत के घाट उतार दिया था, वही श्रेणिक उस बल के अभिमान के पाप से मरकर पहली नरक में चला गया, जहाँ उसे 84000 वर्ष तक परमाधामियों की भयंकर पीड़ा सहन करनी पड़ रही है ।

बल का गर्व करके जो सुखानुभूति हुई, उसकी सजा कितनी भयंकर है । यह हमेशा याद रखने जैसा है ।

पुण्य के उदय से तुम्हें शारीरिक बल मिला है तो उसका तुम सदुपयोग करो । किसी कमजोर के तुम सहायक बनो । किसी कमजोर के आँसू पोंछने में अपने बल का उपयोग करो ।

किसी कमजोर को सहायता करने में अपनी शक्ति का उपयोग करोगे तो तुम्हें प्राप्त हुई शक्ति भी सफल व सार्थक बनेगी ।

धन का अभिमान न करें

हे पुण्यात्मन् !

तुम धनवान हो ! तुम्हारे पास अमाप धन-संपत्ति है ! कितनी ही मौज-मजा कर लो, फिर भी तुम्हारा धन खूटने वाला नहीं है, परंतु याद रखना, उस धन का थोड़ा भी गर्व मत करना ।

धन की प्राप्ति भी पुण्योदय के अधीन है। पुण्य का उदय होता है और मनुष्य को धन की प्राप्ति सरलता से हो जाती है और पाप का उदय होता है तो धनवान व्यक्ति भी निर्धन बन जाता है ।

अंतराय कर्म के मुख्य 5 भेद हैं-दानांतराय, लाभांतराय, भोगांतराय, उपभोगांतराय और वीर्यांतराय !

गृहस्थ को धन की प्राप्ति होती है-लाभांतराय कर्म के क्षयोपशम से !

लाभांतराय कर्म का क्षयोपशम होगा तो व्यक्ति कोई भी धंधा करेगा, उसे धन का लाभ हो जाएगा और लाभांतराय कर्म का उदय होगा तो व्यक्ति किसी भी धंधे में हाथ ड़ालेगा, उसे नुकसान ही नुकसान होगा ।

व्यक्ति के पुण्य कर्म का उदय कब तक टिका रहेगा, कुछ भी पता नहीं है। पुण्य का उदय होगा तब तक लाभ-ही-लाभ होता रहेगा, परंतु वह उदय कब तक बना रहेगा, कुछ भी पता नहीं है ।

किस समय पाप का उदय आएगा और हाथ में रही सारी संपत्ति चौपट हो जाएगी, कुछ भी पता नहीं है अतः हे पुण्यात्मन् !

पुण्य कर्म के उदय से प्राप्त धन-संपत्ति का लेश भी अभिमान मत करना।

फुटबॉल में जब तक हवा भरी होती है, तब तक वह ऊपर उछलता है, बस, इसी प्रकार जब व्यक्ति में धन का अभिमान पैदा होता है, तब वह उछलने लगता है ।

धनवान व्यक्ति के जीवन में नम्रता तथा उदारता हो तो वह

अनेक गरीब व दु:खी प्राणियों के आँसू भी पोंछ सकता है, वह अनेक गरीबों की दुआ भी ले सकता है ।

धन के साथ यदि जीवन में नम्रता व उदारता न हो तो वह धन व्यक्ति के लिए अभिशाप ही बनता है ।

धन वरदान भी बन सकता है और अभिशाप भी । जब पुण्योदय से प्राप्त संपत्ति का सदुपयोग किया जाता है, दीन-दु:खी गरीब-अनाथ के दु:ख- दर्द में सहभागी बनने में संपत्ति का उपयोग किया जाता है, तब वह धन वरदान बनता है, परंतु उसी धन-संपत्ति को प्राप्त कर व्यक्ति स्तंभ की तरह जड़ बनता हो...दीन-दु:खी व गरीबों का तिरस्कार करता हो तो वही धन अभिशाप बन जाता है, जो व्यक्ति को पछाड़े बिना नहीं रहता है ।

जैसे बाढ़ के रूप में आया नदी का जल विनाश करता है और नदी का वही जल नहर के रूप में बहे तो भूमि का सींचन ही करता है, बस, इसी प्रकार अभिमान युक्त संपत्ति विनाश को आमंत्रण देती है, जबकि नम्रता व उदारता युक्त संपत्ति विकास की ओर ले जाती है ।

संपत्ति से भी सन्मति बढ़कर है ।

संपत्ति के साथ सन्मति न हो तो व्यक्ति उस संपत्ति का गैरउपयोग ही करेगा । अपनी संपत्ति को भोगवैभव और विलासिता में ही खर्च करेगा ।

जब संपत्ति के साथ सन्मति होगी तो व्यक्ति अपनी संपत्ति को सुकृत के मार्ग में ले जाएगा ।

सन्मतियुक्त वस्तुपाल, तेजपाल, पेथड़शाह, धरणाशाह, झांझण शाह आदि को संपत्ति मिली तो उन्होंने अपने जीवन में सैकड़ों सुकृत किये ।

शराब के नशे से भी धन का नशा अधिक खतरनाक होता है । धन के नशे में मस्त बना व्यक्ति बड़ों का भी अपमान ही करता है ।

उम्र में बड़े व्यक्तियों का आदर-सम्मान करना चाहिए, उसके बजाय धनी अभिमानी, बड़ों का अपमान करता है, बड़ों के अपमान के फलस्वरूप, बड़ों से जो आशीर्वाद मिलना चाहिए, वह आशीर्वाद वह प्राप्त नहीं कर पाता है ।

धन का अभिमान, धनवान गृहस्थों को होता है, फिर भी धनवान भक्तों के कारण परोक्ष रुप में साधु को भी हो सकता है ।

ज्ञान का अभिमान न करें

पुण्यात्मन् ! भोजन जब नहीं पचता है, तब अजीर्ण होता है और उस अजीर्ण में से अनेक प्रकार के रोग पैदा होते हैं ।

बस, इसी प्रकार जब व्यक्ति प्राप्त ज्ञान को पचा नहीं पाता है, तब जीवन में अभिमान ही पैदा होता है ।

तप का अजीर्ण क्रोध है तो ज्ञान का अजीर्ण अहंकार है ।

पूर्व जन्म में की गई ज्ञान की आराधना के फलस्वरूप ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से बुद्धि-बल की प्राप्ति होती है, उस ज्ञान का अभिमान करने जैसा नहीं है, क्योंकि किस समय ज्ञानावरणीय कर्म उदय में आएगा और व्यक्ति बुद्धिहीन हो जाएगा, कुछ भी पता नहीं है।

अच्छे-अच्छे बुद्धिशाली व्यक्ति भी पापोदय के कारण पागल बन जाते हैं...उन्हें कुछ भी याद नहीं रह पाता हैं। वे सभी की हँसी के पात्र बन जाते हैं, अतः अपने ज्ञान का कभी अभिमान मत करना ।

आम के वृक्ष पर ज्योंही फल लगते हैं त्योंही आम का वृक्ष झुक जाता है...वह अत्यंत ही नम्र बन जाता है । एक सामान्य मानव भी उस फल को आसानी से प्राप्त कर लेता है ।

बस, इसी प्रकार ज्ञानी वही कहलाता है, जो ज्ञान की प्राप्ति के साथ नम्र बनता है। जो विनम्र है...उसी का ज्ञान सफल और सार्थक है ।

भोजन यदि पच जाता है तो शरीर में शक्ति आती है, बस, इसी प्रकार जीवन में जब ज्ञान पच जाता है, तब नम्रता पैदा होती है।

भगवान महावीर प्रभु की अंतिम देशना, जो **``उत्तराध्ययन सूत्र''** के नाम से आज भी विद्यमान है, उस उत्तराध्ययन सूत्र में सबसे पहला अध्ययन **विनय अध्ययन** ही है ।

विनय को धर्म का मूल कहा गया है । जो विनीत है, वही वीतराग परमात्मा के द्वारा निर्दिष्ट वास्तविक धर्म को अपने जीवन में आत्मसात् कर सकता है, जो अविनीत है, वह सच्चे धर्म का आराधक भी नहीं बन सकता है ।

विनय वही कर सकता है, जिसने अभिमान का त्याग किया हो ।

ज्ञान के मुख्य दो प्रकार हैं 1. क्षायिकज्ञान और 2. क्षायोपशमिक ज्ञान ।

केवलज्ञान क्षायिकज्ञान है । एकबार उस ज्ञान की प्राप्ति हो जाने के बाद वह ज्ञान कभी जानेवाला नहीं है ।

मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान और मन:पर्यवज्ञान ये चार ज्ञान, क्षायोपशमिक ज्ञान कहलाते हैं । ये ज्ञान आने के बाद इन ज्ञानों पर पुन: आवरण आ सकता है अर्थात् इन ज्ञानों का क्षयोपशम ऐसा है, जो समय आने पर नष्ट भी हो सकता है ।

अपने ज्ञान का अभिमान कभी न करें । अपने ज्ञान का प्रदर्शन कभी न करे ।

10 पूर्वधर महर्षि स्थूलभद्र मुनि ने अपने ज्ञान का प्रदर्शन किया ! वंदन करने के लिए आ रही अपनी बहिनों को, अपनी शक्ति बताने के लिए सिंह का रूप धारण किया । परिणाम यह आया कि गुरुदेव ने आगे के सूत्र प्रदान करने से इन्कार कर दिया । कारण एक ही था-वे अपने ज्ञान को पचा नहीं पाए ।

वर्तमान में अपने को प्राप्त हुई बुद्धि तो मतिज्ञान का एक प्रकार है । उस बुद्धि का क्या गर्व करना ?

पूर्वकाल के महापुरुषों में बुद्धि का ऐसा क्षयोपशम था कि वे एक बार सुनी हुई बात को हमेशा के लिए याद रख लेते थे । अपना क्षयोपशम कितना मंद है-सुबह याद किया, शाम को भूल जाते हैं ।

पूर्व के महापुरुषों ने जिन अर्थगंभीर सूत्रों का सर्जन किया, क्या ऐसा सर्जन करने की हम में ताकत है ? यदि नहीं, तो उस बुद्धि का क्या गर्व करना !

तप का अभिमान न करें

हे पुण्यात्मन् !

तुम बड़े तपस्वी हो ।

तुम बड़ी-बड़ी तपश्चर्या आसानी से कर सकते हो । उपवास,

छट्ठ अट्ठम तो तुम्हारे बाएँ हाथ का खेल हैं । वर्धमान तप, वर्षीतप, सिद्धितप, श्रेणितप जैसी दीर्घकालीन तपश्चर्याएँ भी तुम हँसते-हँसते, किसी प्रकार की शारीरिक तकलीफ के बिना आसानी से कर लेते हो ।

परंतु याद रखना इस तप का गर्व करने जैसा नहीं है ।

तुम आसानी से तप कर सकते हो, वीर्यांतराय कर्म के क्षयोपशम के कारण ।

इस कर्म का क्षयोपशम आज है, कल इसमें परिवर्तन आ सकता है ।

वीर्यांतराय कर्म उदय में आ गया तो तुम कमजोर बन जाओगे ।

तुम्हें भूख का अनुभव कम होता है, भूख से तुम पीड़ित नहीं होते हो । इसका कारण है क्षुधा वेदनीय कर्म तुम्हें परेशान नहीं कर रहा है ।

जिनके जीवन में क्षुधावेदनीय कर्म का तीव्र उदय होता है उन व्यक्तियों की हालत देख लेना । वे व्यक्ति थोड़ी भी भूख की पीड़ा को सहन नहीं कर पाते हैं । भूख की पीड़ा से वे शीघ्र ही आकुल-व्याकुल हो जाते हैं ।

एक दिन का उपवास करना यह तो उनके लिए आकाश के तारे तोड़ने जैसी बात हो जाती है ।

एक उपवास करने पर भी उन्हें दिन में तारे और रात को राबड़ी दिखाई देने लगती है । वे दूसरे दिन की नवकारसी के पच्चक्खाण की सतत इंतजारी कर रहे होते हैं ।

पूर्व के तप के अंतराय का ही यह दुष्परिणाम है ।

किसी को तप में अंतराय करने से अपने ही तप में अंतराय पैदा होता है । तप करने में अपनी शक्ति को छिपाने से भी तप में अंतराय पैदा होता है ।

तप का अभिमान करने से भविष्य में अपने ही लिए तप दुर्लभ हो जाता है ।

सन्मान को पचाना कठिन है

परीषह अर्थात् जिसको चारों ओर से सहन करने का है । साधु को 22 परीषह सहन करने के होते हैं । उन 22 परीषहों में **''सन्मान''** को भी एक परीषह कहा है ।

प्रश्न : अपमान परीषह हो सकता है- सत्कार परीषह कैसे ?

उत्तर : ``अपमान को पचाना तो भी सरल है, परंतु सत्कार-सन्मान को पचाना बहुत ही कठिन है ।

किसी के द्वारा अपमान होने पर मन में द्वेष भाव पैदा होने की संभावना है ।

जबकि किसी के द्वारा सत्कार-सम्मान मिलने पर मन में रागभाव पैदा होने की अधिक संभावना है ।

द्वेष से भी राग ज्यादा खतरनाक है । द्वेष के प्रसंगों में समभाव रखनेवाला भी राग के निमित्त को पाकर विह्वल बन जाता है ।

किसी के द्वारा दी गई गाली को सहन कर लेना तो भी आसान है, परंतु भरी सभा के बीच में प्राप्त हुए सन्मान को पचाना अत्यंत ही कठिन कार्य है ।

अभिमानी की हार

तीव्र रफ्तार के साथ भागनेवाले खरगोश ने कछुए को कहा, ``चलो, हम दौड़ लगाते हैं ।''

कछुए ने सोचा, ``इसकी चाल के आगे मेरी क्या ताकत है, सच मायने में यह मुझे नीचा दिखाना चाहता है । ज्यादा आग्रह होने से कछुए ने **``हाँ''** भर दी ।''

``कहाँ से कहाँ तक दौड़ने का है ?'' यह निर्णय कर लिया गया ।

Starting Point से दोनों ने दौड़ना चालू किया । खरगोश तो बहुत तेजी से चंद क्षणों में ही काफी दूर चला गया । कछुआ धीमी गति से धीरे-धीरे चल रहा था ।

खरगोश ने आधा रास्ता चंद क्षणों में पार कर लिया, उसने सोचा, **``कछुए को आने में काफी देर लगेगी, मैं क्यों न थोड़ी देर के लिए आराम कर लूँ, इस प्रकार सोचकर वह बीच मार्ग में ही सो गया ।''**

इधर कछुआ धीरे धीरे आगे बढ़ता गया और वह खरगोश से भी काफी आगे निकल गया । खरगोश को गहरी नींद आ गई थी । कछुआ गंतव्य स्थान तक पहुँच गया ।

जैसे ही खरगोश की नींद खुली, वह भागा और कुछ ही देर में अपने गंतव्य स्थान पर पहुँच गया । वहाँ जाकर उसने देखा तो उसके आश्चर्य का पार न रहा, क्योंकि कछुआ अपने नियत स्थल पर पहले ही पहुँच चुका था ।

कछुआ जीत गया, खरगोश की हार हो गई । ठीक ही कहा है- **``अभिमानी का पतन ही होता है ।''**

मान से विनय नाश

``मानाद् विनयोपघातमाप्नोति ।''

प्रशमरतिकार पू. उमास्वातिजी म. ने क्रोध, मान, माया और लोभ रूप चारों कषायों की भयंकरता का वर्णन किया है ।

कष अर्थात् संसार,

आय अर्थात् वृद्धि !

जो अपनी आत्मा के संसार को बढाने वाले हैं, उन्हें **कषाय** कहा जाता है ।

ये कषाय अपनी आत्मा के संसार-वृक्ष का सींचन करते रहते हैं ।

जिस प्रकार जल के सींचन से वृक्ष हरा भरा रहता है, उसी प्रकार कषायों के सेवन से अपनी आत्मा का संसार-वृक्ष हराभरा रहता है ।

वृक्ष को पानी न मिले तो वह सूखने लगता है । बस, इसी प्रकार जीवन में कषायों का सेवन बंद हो जाय तो अपनी आत्मा का संसार भी कटने लगता है ।

मान कषाय से विनय गुण का नाश होता है । अहंकारी व्यक्ति के व्यवहार में, भाषा में नम्रता नहीं होगी । वह अकड़ से ही बात करेगा ।

जिस बालक में अहंकार की हवा भरी होगी, वह अपने माता-पिता का विनय नहीं करेगा । वह माता-पिता के चरणों में नमस्कार नहीं करेगा । वह माता-पिता से नम्रतापूर्वक बातचीत नहीं करेगा ।

जिस शिष्य में अहंकार होगा, वह अपने ज्ञानदाता, धर्मदाता गुरु का विनय नहीं करेगा । वह गुरु की भक्ति नहीं करेगा ।

लघुता की ग्रंथि से पीड़ित व्यक्ति
अपने समय व शक्ति का सदुपयोग नहीं कर सकता है,
``हीनता की भावना से ग्रस्त व्यक्ति
सदैव अपने आपको कमजोर ही मानकर चलता है,
फलस्वरूप सदैव-सर्वत्र असफलता ही उसके भाग्य में लिखी होती है।
हाँ ! हीनता के साथ-साथ जीवन में अहंकार भी नहीं होना चाहिए।
अहंकार की भावना भी अन्य व्यक्ति को गिराने का ही काम करती है।
जीवन में न तो अहंकार होना चाहिए और न ही लघुता-ग्रंथि।

अभिमान न करो

अपने आपको महान् समझना, यही सबसे बड़ी भूल है।
सत्ता, सम्पत्ति, सौंदर्य, विद्या, शक्ति व शौर्य
जो कुछ मिला है उसका अभिमान न करें।
कहावत है-**``सेर पर सवा सेर होता ही है।''**
जो कुछ तुम्हें मिला, उससे भी अधिक अनेक को मिला है, अतः
अपनी शक्ति का अभिमान मत करो।
``लघुता से प्रभुता मिले, प्रभुता से प्रभु दूर।''
जीवन में नम्र व्यक्ति ही प्रभुता हासिल कर सकता है।

अभिमानी का पतन

नदी की शोभा जल से होती है,
जलविहीन नदी शोभा नहीं देती है।
पुष्प की शोभा सुगंध से होती है।
सुगंध-हीन पुष्प का कोई मूल्य नहीं होता है।
रात्रि, चंद्रमा से सुशोभित होती है, चंद्र के अभाव में
रात्रि में घोर अंधेरा ही होता है।
उसी प्रकार मानव की शोभा धन से नहीं, किंतु विनय से होती है।
विनयहीन मनुष्य अभिमान के कारण अक्कड़ होता है।
जो अभिमानी है, उसका अवश्य पतन होता है।

नम्र बनो

कुए में उतरने वाली बाल्टी यदि झुकती है तो भरकर बाहर आती है। जीवन का भी यही गणित है।

जो झुकता है वह प्राप्त करता है, जो वृक्ष की भाँति अक्कड़ रहता है, वह कभी कुछ भी प्राप्त नहीं कर सकता है।

यदि किसी से पाना है तो नम्र बनना सीखो।

नम्रता ही ज्ञान-प्राप्ति का अमोघ उपाय है।

जो नम्र है-वही ज्ञानी है। जो अभिमानी है वह शब्दज्ञान पा सकता है लेकिन उसके रहस्यार्थ को कभी नहीं।

अहंकार को मारना कठिन है

आदमी अपने हाथ में रहे शस्त्र द्वारा दूसरे आदमी को खत्म कर सकता है, परंतु अपने ही भीतर रहे अहंकार को खत्म नहीं कर पाता है।

बाहर के दुश्मन को जीतना आसान है, परंतु भीतर रहे अहंकार को जीतना अत्यंत ही कठिन है।

बाहर के दुश्मन को पहिचानना आसान है, क्योंकि वे बाहर दिखाई देते हैं, जबकि अंदर के दुश्मन बाहर की आंखों से दिखाई नहीं देते हैं, अतः उन्हें पहिचानना अत्यंत ही कठिन है।

बाहर के दुश्मनों को खत्म करने के लिए अनेक साधन हैं- लकड़ी, पत्थर, चाकू, छुरी, तलवार, बंदुक आदि।

अंदर के दुश्मन को खत्म करने के लिए अलग-अलग गुणों को आत्मसात् करना पड़ता है।

क्रोध की आग को शांत करने के लिए क्षमा का जल चाहिए। अभिमान के पर्वत को चूर चूर करने के लिए नम्रता (विनय) का वज्र चाहिए।

विनम्र बनो

कवि ने ठीक ही कहा है :

''झुकता वही है, जिसमें कुछ जान है।
अकड़पन तो खास मुर्दे की पहचान है॥''

मुर्दे को तुमने देखा होगा ? वह कभी झुकता नहीं है ।

फल आने पर आम्र वृक्ष जैसे झुकता है, उसी प्रकार मेधावी व्यक्ति ज्यों-ज्यों ज्ञान, विद्या, शक्ति और सत्ता प्राप्त करता है, त्यों-त्यों वह अधिक नम्र बनता जाता है ।

उछलती-कूदती हुई नदी बड़े-बड़े वृक्षों को उखाड़ फेंकती है परन्तु बेंत को उखाड़ने की उसमें ताकत नहीं है, क्योंकि बड़े बड़े वृक्ष अक्कड़ रहते हैं, जबकि बेंत तुरंत झुक जाती है ।

जो अक्कड़ रहता है, उसका अस्तित्व धूमिल हो जाता है, जो विनम्र होता है, उसका अस्तित्व सदैव बना रहता है ।

अहंकार छोड़ो

अहंकार आत्मसाधना में बाधक तत्त्व है ।

अपराध हो जाना मानवीय प्रकृति है ।

परन्तु जो अहंकारी है, वह उस अपराध के बदले दूसरे से क्षमा नहीं मांग सकता ।

अहंकारी में दूसरे के प्रति तिरस्कार भाव रहा होता है,

अतः दूसरे के अपराध को क्षमा भी नहीं कर सकता ।

साधु का वेष तो कोई भी पहिन सकेगा,

परन्तु साधुता वही व्यक्ति प्राप्त कर सकेगा, जिसने अहंकार के वस्त्र उतार दिए हैं ।

गर्व मत करो

मुझे एक सुभाषित याद आ रहा है

''मा कुरु तन-धन-यौवनगर्वम्''

शरीर, धन और यौवन का गर्व कभी नहीं करना चाहिए ।

क्योंकि शरीर रोगों का घर है ।

किसी भी समय यह काया किसी भी प्रकार के रोग से ग्रस्त हो सकती है ।

धन अत्यंत ही चपल है, वह कभी भी अपना स्थान बदल सकता है और यह यौवन तो पवन की भांति अत्यंत ही चपल है ।

देखते-ही-देखते नष्ट हो जाने वाला है ।

जो स्थायी नहीं हैं, उनका क्या विश्वास करना ?

उनको पाकर क्या गर्व करना ?

विनय का नाश

ठीक ही कहा है-

``माणो विणयनासणो ।''

मान से विनय का नाश होता है ।

अभिमानी व्यक्ति कभी बड़ों का विनय नहीं कर सकता है ।

मान को दूर किए बिना जीवन में विनय गुण की साधना संभव नहीं है ।

जहाँ विनय होता है, वहाँ सभी गुण खींचकर चले आते हैं ।

विनय के अभाव में नम्रता आदि गुण टिक नहीं पाते हैं ।

अपमान न करो

यदि तुम्हारे पास पुण्य के उदय से प्राप्त रूप है, शक्ति है, सम्पत्ति है तो उसका अभिमान मत करो । इतना ही नहीं, ये वस्तुएँ जिसके पास नहीं हैं, उनका अपमान भी मत करो ।

किसी का मान-भंग करना सज्जनता का लक्षण नहीं है ।

बड़ों का आदर करना सद्‌गुण है ।

यदि यह सद्‌गुण तुम्हारे पास नहीं है तो उसकी प्राप्ति के लिए प्रयास करो ।

परंतु इतनी बात अवश्य ध्यान में रखना । किसी को सम्मान न दे सको तो कोई विशेष आपत्ति नहीं, परन्तु किसी का अपमान तो भूलकर भी मत करना ।

अभिमान

अपने आलीशान बंगले के दरवाजे पर

No Admission without Permission का बोर्ड़ लगाने वाले

हे मानव !

तू इस बात को क्यों भूल जाता है कि एक दिन

तुझे इसी बंगले में से Get-out कर दिया जाएगा ।

तेरा वह अभिमान का बर्फ सदा के लिए गल जाएगा ।

शिखर से गिरने वाले को जैसे अधिक चोट लगती है, वैसे ही चिर-विदाई के समय तेरा वह अभिमान तेरे देह के साथ ही राख में मिल जाएगा ।

विनयवान बनो !

जेब ही यदि फटी हुई है तो

उस जेब में सिक्के नहीं रह सकते ।

बाल्टी ही यदि छिद्र वाली हो तो उसमें जल ठहर नहीं सकता ।

बस ! इसी प्रकार **अभिमानी व्यक्ति के हृदय में**

ज्ञान टिक नहीं सकता । ज्ञान का फल तो विनय-नम्रता है ।

जिस साधना से साध्य की प्राप्ति न हो तो उस साधना का अर्थ ही क्या है ? बस ! ज्ञान-प्राप्ति के बाद विनय के बजाय अभिमान आ जाय तो उस ज्ञान को सार्थक कैसे मान सकेंगें ?

बड़ों को सम्मान-दान

मानव जीवन के साथ अनेक कर्त्तव्य जुड़े हुए हैं,

उनमें एक कर्त्तव्य है, बड़ों को सम्मान-दान ।

बड़ों का सम्मान करना, उन्हें आदर देना, अपना आवश्यक कर्त्तव्य है ।

कदाचित् किसी को सम्मान न दे सको तो भी

किसी का अपमान तो कभी नहीं करना चाहिए ।

अपमान का जख्म गहरा होता है, उसको ठीक होने में बहुत देर लगती है,

अतः जीवन में योग्य का सत्कार करना सीखो ।

योग्य का सत्कार तुम्हारे जीवन को ऊँचा उठाएगा ।

अभिमान, क्षमा में बाधक

अभिमानी व्यक्ति किसी के पास क्षमा मांग नहीं सकता,
क्योंकि क्षमा माँगने में उसे अपनी लघुता का अहसास होता है ।
अभिमानी व्यक्ति किसी को माफ नहीं कर सकता है,
क्योंकि उसके दिल में ईर्ष्या व तिरस्कार की भावना
रही हुई होती है, इस भावना के फलस्वरूप
वह दूसरों को हानि पहुँचाने में ही तैयार रहता है ।

अविनीत कैसा होता है ?

जिस प्रकार नदी की शोभा जल से है । जलरहित नदी शोभा नहीं देती है, उसी प्रकार जिस व्यक्ति के जीवन में विनय गुण नहीं है, ऐसा अविनीत भी शोभा नहीं देता है ।

अविनीत व्यक्ति अपने जीवन में पूज्य व्यक्ति का बहुमान नहीं कर पाता है । अविनीत व्यक्ति पूज्यों का अविनय-आशातना करके भयंकर कोटि के पाप कर्म बाँधता है ।

गुरु के प्रति रहे अविनय गुण के कारण ही कुलवालक मुनि का अध:पतन हुआ था, वे महातपस्वी होते हुए भी चारित्र से भ्रष्ट हुए थे ।

नम्र बनो

यदि आपको ज्ञान की भूख है,

यदि आप ज्ञान पाना चाहते हो,

यदि आप शास्त्र के रहस्य समझना चाहते हो तो आपको खूब नम्र बनना चाहिए । जो नम्र होता है, वही सद्गुरु का विनय कर सकता है । जो सद्गुरु का विनय करता है, वही सद्गुरु की कृपा प्राप्त कर सकता है और जो सद्गुरु की कृपा प्राप्त करता है, उसी में शास्त्र के रहस्य परिणत होते हैं अर्थात् शास्त्र के गर्भित रहस्यों को भी वही आत्मा प्राप्त कर सकती है, जो आत्मा नम्र होती है ।

जो गिलास पानी से भरा होता है, उसमें अन्य किसी वस्तु का

समावेश नहीं हो सकता है । उसी प्रकार जिसका मन अहंकार से भरा होता है, उसे अन्य ज्ञान की प्राप्ति शक्य नहीं है ।

विनय से लाभ

धन पास में हो तो दुनिया भर की वस्तुएँ आसानी से खरीदी जा सकती हैं । बस, उसी प्रकार जीवन में विनय गुण हो तो आत्मा की सारी समृद्धि प्राप्त की जा सकती है ।

धन से मर्यादित वस्तुएँ प्राप्त होती हैं, जबकि विनय गुण द्वारा आत्मा की संपूर्ण कैवल्य लक्ष्मी को प्राप्त किया जा सकता है ।

सभी गुण विनय के अधीन

``प्रशमरति'' में बहुत ही सुंदर बात कही है-

``विनयायत्ताश्च गुणाः ।''

सभी गुण विनय के अधीन है ।

जिस प्रकार लोह चुंबक अपने आसपास में रहे लोह कणों को अपनी ओर खींच लेता है, उसी प्रकार जीवन में एक विनय गुण आता है और उसके साथ ही अन्य सभी गुण खींचकर चले आते हैं ।

जिस प्रकार चाबी हाथ में हो तो तिजोरी में रहे धन को प्राप्त किया जा सकता है, उसी प्रकार जीवन में विनय गुण हो तो अन्य सभी गुण खींच कर चले आएंगे ।

वृक्ष तभी तक हरा-भरा और फलदायी रहता है, जब तक वह मूल से जुड़ा रहता है । मूल (जड़) कटने के बाद वह वृक्ष लम्बे समय तक न तो टिक सकता है और न ही हरा-भरा रह सकता है और न ही उस पर भविष्य में फल लगते हैं ।

वृक्ष की सुंदरता व विकास मूल के अधीन है, उसी प्रकार आत्मा का संपूर्ण विकास विनय गुण के अधीन है । जीवन में विनय है तो सभी गुणों का विकास है और जीवन में से विनय गुण चला गया तो आत्मा का विकास अवरूद्ध हुए बिना नहीं रहता है ।

3 सरल बनें

माया अर्थात् कपट करना ।

मन में कुछ अलग भाव हो और बाहर कुछ अलग ही दिखावा करना !

मायावी के लिए कहा जाता है–**'मुख में राम, बगल में छुरी !'**

मुख से तो राम-राम बोलता है और बगल में छुरी लेकर घुमता है । अवसर मिलते ही सामनेवाले को मौत के घाट उतार देता है ।

माया खूब भयंकर है ।

माया यह तो संसार की माता है ।

जिस प्रकार माता बालक को जन्म देती है, उसी प्रकार यह माया, हमारी आत्मा के भव भ्रमण को जन्म देती है ।

इसीलिए आगमों में कहा गया है **'तुम्हें यदि जल्दी मोक्ष में जाना है तो तुम खुब सरल बनो ।'**

जो आत्मा सरल है, माया-कपट नहीं करती है । वह आत्मा शीघ्र ही मुक्ति प्राप्त करती है । वह आत्मा लंबे समय तक संसार में भटकती नहीं है ।

अपने इस भव में या परभव में हुए पापों से छुटकारा पाने के लिए वीतराग परमात्मा ने प्रायश्चित्त का उपाय बताया है, परन्तु वह प्रायश्चित्त कौन कर सकता हैं ?

जो सरल है, निष्कपट है, वही सच्चा प्रायश्चित्त कर सकता हैं, परंतु जो मायावी है, उसके प्रायश्चित्त में कोई दम नहीं है ।

माया-कपट पूर्वक जो तप त्यागकर मरकर देवगति में चले जाते हैं, वे भी हल्की जाति के देव अर्थात् किल्बिषिक देव बनते है । वहां से च्यवकर भी दु:खदायी ऐसी तिर्यंचगति में जाते हैं । जहां अनेक भवों तक भयंकर दु:ख की पीडा सहन करनी पडती है ।

आर्जव अर्थात् ऋजुता, सरलता और निष्कपटता । मायावी व्यक्ति सरल नहीं हो सकता, वह सत्य का उपासक नहीं रह सकता । वह अपने स्वार्थ की सिद्धि के लिए माया, झूठ और प्रपंच का आश्रय

लिए बिना नहीं रहता । मायावी व्यक्ति धर्म का अधिकारी नहीं है । सरल व्यक्ति ही धर्म को पा सकता है । धर्म का पालन कर सकता है । अतः धर्म की प्राप्ति के लिए सरल बनना चाहिये । कपटपूर्ण की गई धर्म-आराधना सफल नहीं बनती है ।

मल्लिनाथ प्रभु ने पूर्व भव में तप धर्म के आचरण में अपने मित्रों के साथ माया का व्यवहार किया था, जिसके फलस्वरुप उन्हें स्त्री रुप में अवतरित होना पड़ा ।

मृदुता-सरलता

माया अर्थात् छल-कपट । बाहर कुछ और अंदर कुछ, उसे मायावी कहते हैं । हाथी के दाँत चबाने के अलग होते हैं और दिखाने के अलग होते हैं । उसी प्रकार मायावी व्यक्ति का भी बाह्य आचरण अलग होता है और उसके भीतर कोई अलग ही भावना होती है ।

बगुला भगत

अजैन रामायण में एक प्रसंग आता है ।

रामचंद्रजी के वनवास काल की यह घटना है ।

रामचंद्रजी पंपा नाम के सरोवर के किनारे गए । वहाँ उन्होंने फूल पर बैठे हुए मधुर गुंजार करते हुए भ्रमरों को देखा तो साथ में एक बगुले को भी देखा । बगुले के पंख एकदम White थे । वह बहुत ही धीमी गति से आगे बढ़ रहा था । उसकी मंद गति से ऐसा लग रहा था, मानों कोई विशिष्ट संत हो । उस बगुले की चाल में जीवदया के दर्शन हो रहे थे । बगुले की इस स्थिति को देखकर रामचन्द्रजी ने लक्ष्मण को कहा–

``पश्य लक्ष्मण ! पंपायां, बकः परम-धार्मिकः ।
शनैः शनैः पदं धत्ते, जीवानां वधशङ्कया ।।

भाई लक्ष्मण ! तू इधर देख, पंपा सरोवर में खड़े प्रभु की भक्ति में लीन इस योगिराज को देख ! किसी जीव की हिंसा न हो जाय, इसके लिए वह कितनी सावधानी से अपना एक-एक कदम रख रहा है ।

राम और लक्ष्मण के इस वार्तालाप को सुनकर उस तालाब में से कुछ मछलियाँ उछल पड़ीं और जोर से बोलीं—

बकः किं वर्ण्यते राम ! बको मत्कुलघातकः ।
सहवासी हि जानाति, चरित्रं सहवासिनाम् ।।

हे राम ! आप इस बगुले का चरित्र कहाँ जानते हो, जिस कारण आप इसकी इतनी प्रशंसा कर रहे हो ! यह तो हमारे कुल का घातक है। साथ में रहनेवाला ही साथ में रहनेवाले का वास्तविक चरित्र जान सकता है।

यह बगुला तो हमें खा जाने के लिए जीवदया का दिखावा कर रहा है ।

मायावी व्यक्ति की भी स्थिति ठीक इस बगुले की तरह होती है। वह बाह्य दिखावा तो धर्मी होने का करता है, परंतु वह भीतर से तो महा अधर्मी ही होता है ।

धर्म के नाम पर ठगी

उज्जयिनी के सम्राट् चंड़प्रद्योत ने निश्चय किया कि किसी भी उपाय से अभयकुमार को बंदी बनाकर यहाँ लाना होगा ।

चंड़प्रद्योत राजा की राजसभा खचाखच भरी हुई थी । उस समय राजा ने घोषणा की, **``जो व्यक्ति अभयकुमार को बंदी बनाकर यहाँ लाएगा, उसे बहुत बड़ा इनाम दिया जाएगा ।''**

राजा की इस घोषणा को सुनकर सभा में एकदम सन्नाटा छा गया। एक भी व्यक्ति राजा की इस आज्ञा को शिरोधार्य करने के लिए तैयार नहीं हो पाया ।

किसी ने राजा को सलाह देते हुए कहा, **``राजन् ! बुद्धिनिधान ऐसे अभयकुमार को बंदी बनाना कोई आसान काम नहीं है । यह तो ऐरावत हाथी के दाँत उखाड़ने के समान, असंभव काम है।''**

आकाश में रहे तारों को तोड़ना आसान है, परंतु अभय को बंदी बनाना अशक्य कार्य है ।

``लोहे के चने चबाना आसान है, परंतु अभय को बंदी बनाना अशक्य कार्य है ।''

``चारों प्रकार की बुद्धि के भंड़ार अभयकुमार को बंदी बनाने की बात बिल्कुल असंभव सी लगती है ।''

काफी समय बीतने के बाद राज-सभा में से रत्नमंजरी नाम की वेश्या खड़ी हुई और बोली, **``राजन् ! इस भगीरथ कार्य के लिए आप मुझे आज्ञा करे । मैं शीघ्र ही अभयकुमार को बंदी बनाकर आपकी सेवा में उपस्थित कर दूंगी ।''**

वेश्या के इस निवेदन को सुनकर राजा का मन प्रसन्नता से भर आया।

सभा में बैठे लोग मनोमन तर्क-वितर्क करने लगे । क्या यह वेश्या सचमुच ही अभयकुमार को बंदी बना देगी ?

चंड़प्रद्योत राजा ने उस वेश्या को कहा, **``तुम अपने बुद्धिचातुर्य से अभयकुमार को बंदी बनाओगी, तो तुम्हें बहुत बड़ा इनाम दिया जाएगा। इस कार्य की सफलता के लिए तुम्हें किसी भी वस्तु या धन की जरूरत पड़े, तो उसकी पूर्ति राजकोष में से हो जाएगी ।''**

रत्नमंजरी वेश्या ने राजा की आज्ञा शिरोधार्य की ।

अपने भवन में आने के बाद वह वेश्या सोचने लगी, ``अभयकुमार पुरुषों की 72 कलाओं में निपुण है, तथा वह सतत सर्वत्र सावधान रहता है। एक चुटकी मात्र से वह कैसी भी जटिल समस्या का समाधान कर देता है। वह हाजिर जवाबी है। ऐसे बुद्धिशाली को किस उपाय से ठगा जाय ? इस प्रकार सोचते-सोचते बिजली की भाँति उसके दिमाग में एक विचार आ गया। **``हाँ ! अभयकुमार जैन धर्म का परम उपासक है, देव और गुरु के वचन में उसे अपूर्व श्रद्धा है, अपने समान धर्मी-साधर्मिक को देखते ही वह उसके प्रति फिदा हो जाता है । देव-गुरु और साधर्मिक की सेवा भक्ति में वह किसी प्रकार की कसर नहीं छोड़ता है। उनकी भक्ति के लिए वह अपना सर्वस्व न्योछावर करने के लिए भी सदैव तैयार रहता है ।''**

अन्य किसी भी उपाय से अभयकुमार को ठगना संभव नहीं है, परंतु उसे धर्मबुद्धि से अवश्य ठगा जा सकता है। इस प्रकार विचार कर जैनधर्म के प्राथमिक आचार-विचार व व्यवहार को जानने के लिए वह सुव्रता साध्वीजी के पास पहुँच गई।

साध्वीजी को वंदन आदि कर वह नियमित रूप से उनका उपदेश आदि सुनने लगी। इस प्रकार निरंतर संपर्क से वह श्रावकोचित आचार-विचारों में एकदम निपुण बन गई। सामायिक, प्रतिक्रमण, प्रभुदर्शन, पूजा, गुरु-वंदन, सुपात्र-दान, भक्ष्य-अभक्ष्य, तीर्थ यात्रा की विधि आदि-आदि विषयों का उसने सूक्ष्मता से ज्ञान प्राप्त कर लिया और तदनुसार वह उन सब आचारों का पालन भी करने लगी। वह एक कपटी श्राविका बन गई।

एक दिन राजा की आज्ञा प्राप्तकर दो-तीन सखियों को साथ लेकर रथ में आरूढ़ होकर राजगृही नगरी के बाहर पहुँच गई। उसने नगर के बाहर योग्य भूमि में अपने ड़ेरे तंबू ड़ाल दिए।

उस कपटी श्राविका ने राजगृही नगरी के मंदिरों की चैत्य परि-पाटी प्रारंभ की। वह प्रतिदिन-प्रभु-पूजा के योग्य वस्त्रों को धारण कर धूप, दीप, अक्षत, फल, नैवेद्य आदि पूजा की सामग्री हाथ में लेकर एक-एक मंदिर में जाने लगी और अत्यंत ही विधि और बहुमान पूर्वक परमात्मा की अष्ट प्रकारी पूजा रूप द्रव्य पूजा और स्तुति-गान-स्तवन-पाठ-चैत्यवंदन आदि भावपूजा करने लगी।

बगुले भगत की भाँति अपने मन-वचन और काया को एकाग्र कर वह प्रभु के सामने इस प्रकार मधुरकंठ से स्तुति-स्तवन गाती कि सुननेवाले भी उस समय स्तब्ध हो जाते और उसकी भक्ति में तल्लीन बन जाते।

उसकी इस भक्ति को देख लोग सोचते, **``अहो ! यह कैसी उच्च कोटि की श्राविका है। प्रभुभक्ति में यह कितनी मस्त बन जाती है। इसने अपने जीवन को सफल बना दिया है।''**

इस प्रकार अनेक चैत्यों की यात्राकर वह एक दिन श्रेणिक महाराजा के राजभवन में रहे जिनमंदिर में चली गई। उसने अपने साथ पूजा की उत्तम सामग्री भी साथ रखी थी।

``निसीहि'' आदि कहकर उसने जिनमंदिर में प्रवेश किया । उसके बाद विधिपूर्वक प्रदक्षिणा देने लगी । प्रदक्षिणा के बाद वह प्रभु के बाईं ओर खड़ी रहकर अत्यंत ही मधुरकंठ से स्तुतिगान करने लगी । इसी समय अभयकुमार ने भी प्रभुपूजन के लिए मंदिर में प्रवेश किया ।

कपटी श्राविका के हाव-भाव, भक्ति में तन्मयता, मधुर-कंठ से स्तुति-गान आदि देख अभयकुमार अत्यंत ही प्रभावित हुआ ।

उसने सोचा, **``इसकी भक्ति से लगता है, मानों यह निकट-भवी आत्मा है । अहो ! प्रभुभक्ति में इसकी तन्मयता कैसी है ?''**

द्रव्य और भाव पूजा की समाप्ति के बाद वह कपटी श्राविका और अभयकुमार मंदिर से बाहर आए । अभयकुमार ने सोचा, ``यह कोई बाहर गाँव से आई उच्चकोटि की श्राविका है, सुवर्ण पात्र तुल्य इसका आदर-सत्कार और बहुमान करने से मुझे भी विशेष लाभ होगा ।'' इस प्रकार विचार कर अभयकुमार ने कहा, **``बहिन ! आपका आग-मन कहाँ से हुआ है ?''**

अभयकुमार के इस प्रश्न को सुनकर अपने वाक्चातुर्य में फँसाने के लिए वह बोली, ``हे धर्मबंधु ! संसारी जीव की ज्ञातिवाली मैं चौदह राजलोक रूप नगर में जहाँ-तहाँ भ्रमण करती हुई इस मनुष्यगति रूपी मोहल्ले में क्षेत्रस्पर्शना के योग से आई हूँ ।''

कपटी श्राविका के मुख से इस तत्त्वज्ञान गर्भित जवाब को सुनकर अभयकुमार अत्यंत ही प्रभावित हो गया । वह सोचने लगा, **``अहो ! यह जैन धर्म के तत्त्वज्ञान की विशिष्ट ज्ञाता भी है ।''**

इस प्रकार सोचकर अभयकुमार ने कहा, **``बहिन ! जिनमत से वासित अंतःकरण वाले का तो यही जवाब होता है, परंतु मैंने व्यवहारनय की अपेक्षा से आपको यह प्रश्न पूछा है । कृपया, आपके आगमन की जानकारी दे ।''**

अभय की इस बात को सुनकर दंभ-कला में अत्यंत ही दक्ष, वह कपटी श्राविका बोली, ``हे धर्मबंधु ! पृथ्वीभूषण नगर में रहनेवाले सुभद्र सेठ की मैं पुत्री हूँ । बचपन से ही साध्वीजी भगवंत के समागम के

कारण मुझे जैन धर्म में तीव्र रुचि पैदा हुई थी । क्रमशः मैंने यौवनवय में प्रवेश किया । **``मानव जीवन की सच्ची सफलता और सार्थकता संयम जीवन के स्वीकार और उसके पालन में ही है ।''** यह सब कुछ जानते हुए भी मोह की पराधीनता के कारण वसुदत्त नाम के श्रेष्ठी-पुत्र के साथ मेरा पाणिग्रहण हुआ । विष मिश्रित मोदक तुल्य संसार के भोग-सुखों का अनुभव करते हुए कुछ काल व्यतीत हुआ और कुछ ही वर्षों बाद मेरे पति की मृत्यु हो गई ।''

``पति के वियोग से मै अत्यंत दुःखी हो गई । मुझे कहीं भी शांति नही मिल पायी । आखिर माता तुल्य साध्वीजी भगवंत ने मुझे बोध देते हुए कहा, ``वत्से ! तू व्यर्थ ही खेद क्यों करती है ? देवों को भी दुर्लभ ऐसा मानव जीवन तुझे प्राप्त हुआ है, विषय की कदर्थना द्वारा इस अमूल्य जीवन को व्यर्थ क्यों गँवाती है ? जिनेश्वर भगवंत के मार्ग को तू ने जाना है, समझा है, अतः खेद करना योग्य नहीं है । पति की मृत्यु के बाद अब तू अपना शेष जीवन विशेष प्रकार से धर्म आराधना में व्यतीत कर सकती है ।'' इस प्रकार साध्वीजी भगवंत के उपदेश को सुनने से मुझे खूब शांति मिली और तुच्छ सांसारिक सुखों को भूलकर धर्म आराधना में तत्पर बन गई ।''

एक दिन मैंने साध्वीजी भगवंत के मुख से तीर्थयात्रा की महिमा का वर्णन सुना । उस वर्णन को सुनकर मेरे अन्तर मन में तीर्थयात्रा की भावना पैदा हुई ।

``मैंने अपने दिल की बात अपने पिता को कही । उनकी आज्ञा और आशीर्वाद प्राप्त कर एक शुभ दिन मैं तीर्थयात्रा के लिए निकल पड़ी ।

शत्रुंजय महातीर्थ की यात्रा कर मैं पार्श्वनाथ और सुपार्श्वनाथ की कल्याणक भूमि काशी में गई । उस भूमि की स्पर्शना कर चंद्रावती गई, वहाँ चंद्रप्रभ प्रभु के दर्शन किए ।''

``चंद्रावती नगरी में मैंने सुना, ``राजगृही नगरी में जैन धर्म उन्नति के शिखर पर है । वहाँ महावीर प्रभु के परम भक्त श्रेणिक न्याय व नीति से राज्य का पालन कर रहे हैं ।

उनके ज्येष्ठ पुत्र अभयकुमार बुद्धिनिधान है और जिनमत का अनुसरण करने वाले हैं । वे अत्यंत ही दयालु हैं और सर्व जीवों को अभय देने में प्रयत्नशील हैं । इस प्रकार राजगृही नगरी और पिता-पुत्र की प्रशंसा सुनकर मेरे दिल में भी इस नगर में आने की इच्छा हो गई । आज मेरा परम सौभाग्य है कि मेरा वह मनोरथ फलीभूत हुआ है । मैंने आपकी जो कीर्ति सुनी थी, उससे भी सवाया यहाँ देखा है । आपके दर्शन कर मेरा जीवन सफल हो गया है ।

हे धर्मबंधु ! आप दीर्घजीवी बने और दीर्घकाल तक जिनशासन की सेवा करते रहें ।''

कपटी श्राविका के इन वचनों को सुनकर अभयकुमार ने कहा, **``बहिन ! आज मुझे साधर्मिक भक्ति का लाभ देवें ।''**

अभयकुमार के इस आमंत्रण को सुनकर उस कपटी श्राविका ने कहा, ``यद्यपि सांसारिक संबंध से तो मैं किसी के घर भोजन के लिए नहीं जाती हूँ, परंतु आपने तो साधर्मिक के नाते आमंत्रण दिया है । आपके इस आमंत्रण को मैं कैसे ठुकरा सकती हूँ ? परंतु आज तो मुनिसुव्रत स्वामीजी की कल्याणक भूमि की स्पर्शना हुई होने से मैंने उपवास किया है ।''

उपवास की बात सुनकर अभयकुमार और प्रभावित हुआ । उसने कहा, ``आज आपके उपवास है तो आज तो मैं आपको आग्रह नहीं कर सकता हूँ, परंतु कल पारणे के लिए मेरे घर अवश्य पधारें ।''

``मंत्रीश्वर ! तपस्वी को पारणे की चिंता नहीं करनी चाहिए । पारणे का विचार करने से तपस्वी तप के फल को हार जाता है ।''

``लेकिन आपकी भक्ति का लाभ फिर मुझे कब मिलेगा ? आप जैसी तपस्विनी की भक्ति से तो मेरे भी तप के अंतराय दूर होंगे ।''

``मंत्रीश्वर ! मुझ में वह योग्यता नहीं है, फिर भी आपका अतिआग्रह है, तो साधर्मिक के नाते आपके आग्रह को मैं टाल नहीं सकती । मै कल आपके घर आने की भावना रखती हूँ ।''

इस प्रकार कहकर वह कपटी श्राविका राजगृही नगरी के बाहर अपने तंबू में चली गई और अभयकुमार भी अपने महल में चले गए ।

दूसरे दिन तपस्विनी श्राविका के पारणे के लिए अभयकुमार ने तैयारी की । अभयकुमार ने पारणे के लिए अनेकविध भोजन सामग्री बनवाई । प्रातः काल होने के बाद वह आमंत्रण पूर्वक उस श्राविका को अपने महल में ले आया ।

वह कपटी श्राविका पारणा करने के लिए बैठी तो वह भोजन सामग्री के बारे में खूब पूछताछ करने लगी । कल्प्य-अकल्प्य, कालाति-क्रम, भेल-संभेल आदि की सूक्ष्म जानकारी को देख अभयकुमार भी खूब प्रभावित हो गया । अभयकुमार भोजन में जब मिठाई परोसने लगा तो वह बोली, **``जब तक समेतशिखर की यात्रा न हो, तब तक मुझे सभी मिठाई का त्याग है ।''**

दूध परोसने लगा तो बोली, **``जब तक मैं दीक्षा अंगीकार न करूँ, तब तक मैंने दूध विगई का त्याग किया है ।''**

``मुझे 8 द्रव्यों से ज्यादा द्रव्य नहीं लेने की प्रतिज्ञा है ।''

कपटी श्राविका के इस बाह्य त्याग से अभयकुमार खूब प्रभा-वित हुआ ।

भोजन के बाद मुखवास लेने से भी उसने इन्कार कर दिया ।

जब मंत्रीश्वर वस्त्र-आभूषण आदि देने लगे, तो भी उसने इन्कार कर दिया और बहुत सादी वस्तुएँ ही स्वीकार की ।

कपटी श्राविका जब विदाई लेने लगी, तब अभयकुमार ने कहा, **``मेरे योग्य सेवाकार्य फरमाएँ ।''**

उसने कहा, **``आप भी मेरे आवास पर पधारकर मुझे साध-र्मिक भक्ति का लाभ देवे ।''**

अभयकुमार ने उसके आमंत्रण को स्वीकार कर लिया । दूसरे दिन अभयकुमार उस कपटी श्राविका के तंबू में गया ।

वेश्या ने अभयकुमार को ले जाने के लिए सारा षड्यंत्र रच ड़ाला था ।

अभयकुमार भोजन के लिए बैठा, उस श्राविका ने उत्तम द्रव्यों से उसकी खूब भक्ति की । उसके बाद उस भोजन के साथ चंद्रहास नाम की मदिरा भी पिला दी ।

थोड़ी ही देर में अभयकुमार को मदिरा का नशा चढ़ने लगा, वे बेहोश होकर भूमि पर ढल पड़े ।

उस वेश्या ने अपने तंबू के पिछले भाग में रथ तैयार रखा था। अभयकुमार के मूर्च्छित होते ही दो व्यक्तियों ने अभयकुमार को उठाकर रथ में ड़ाल दिया । वह वेश्या भी उस रथ में चढ़ गई और थोड़े ही क्षणों में वह रथ उज्जयिनी की ओर आगे बढने लगा । पवनवेगी घोड़ों के कारण वह रथ मानों हवा में उड़ने लगा । राजगृही से उज्जयिनी के बीच काफी लंबा रास्ता था । वेश्या ने अपनी योजनानुसार बीच मार्ग में घोड़े बदलने की व्यवस्था भी कर दी थी ।

अभयकुमार नशे में चकचूर होने के कारण रथ में मूर्छित की तरह पड़ा रहा । कुछ ही दिनों में वह रथ उज्जयिनी में पहुँच गया । उस वेश्या ने चंड़प्रद्योत राजा को समाचार भिजवा दिए ।

तत्काल अभयकुमार को बंदी बना दिया गया । कैद में ड़ालने के बाद अभयकुमार होश में आए ।

वे सोचने लगे, **``मैं यहाँ कैसे आ गया ?''** जब अभयकुमार को पता चला कि एक वेश्या के द्वारा धर्म के नाम पर ठगी कर उसे यहाँ लाया गया है, तो उसे बड़ा खेद हुआ ।

उसने राजा चंड़प्रद्योत को कहा, ``धर्म के नाम पर छल-कपट करना उचित नहीं है । क्षत्रिय पुरुष धर्म के नाम पर ऐसी ठगबाजी कभी नहीं करता है ।''

मायावी कैसा होता है ?

``तन उजला मन सांवला, बगुला कपटी भेख ।
या सूं तो कागा भला, बाहर भीतर एक ।।''

बगुले का रंग बाहर से सफेद होता है, परंतु उसका मन तो

काला ही होता है । उस बगुले से तो वह कौआ अच्छा होता है, जो बाहर और भीतर समान होता है ।

माया से तिर्यंच गति

उमास्वातिजी म. ने ''**तत्त्वार्थ सूत्र**'' में चार गतियों के आयुष्य के बंध के हेतु बतलाए हैं । उसमें कहा है कि जो व्यक्ति मायावी होता है, वह तिर्यंच गति के आयुष्य का बंध करता है ।

उन्होंने कहा है-''**माया तैर्यग्योनस्य ।**''

माया से स्त्रीवेद

19 वें तीर्थंकर मल्लिनाथ भगवान ने अपने पूर्व के तीसरे अर्थात् महाबल के भव में अपने मित्रों के साथ तप धर्म के आचरण में माया की थी । यद्यपि ''**विश्व कल्याण**'' की पवित्र भावना के फलस्वरूप उन्होंने तीर्थंकर नामकर्म उपार्जित किया था, परंतु साथ में माया के कारण उन्होंने स्त्रीवेद बाँधा था अर्थात् एक माया पाप के कारण उन्हें भी स्त्री के रूप में जन्म लेना पड़ा ।

दांभिक का कल्याण नहीं

हृदय में माया-कपट और दंभ रखकर जो बाह्य आराधना के फलस्वरूप मुक्ति पद पाने की इच्छा करता है, उसकी वह भावना कभी फलीभूत नहीं बनती है ।

जिस प्रकार लोहे की नाव पर आरूढ़ व्यक्ति नदी पार नहीं कर सकता है, उसी प्रकार दंभपूर्वक की गई आराधनाएँ आत्मा के लिए मुक्ति का कारण नहीं बनती हैं ।

केशलोच द्वारा कायकष्ट सहन करे, भूमि पर शयन करे, भिक्षावृत्ति द्वारा जीवननिर्वाह करे और ब्रह्मचर्य का पालन करे परंतु हृदय में से दंभ नहीं गया हो तो उस बाह्य साधना का कोई विशेष लाभ नहीं है ।

रस की लंपटता का त्याग करना आसान है, देह की विभूषा का त्याग करना आसान है, कामभोग का त्याग करना आसान है, परंतु हृदय में से दंभवृत्ति का त्याग करना, अत्यंत ही कठिन है ।

असती स्त्री का शीलपालन अशील की वृद्धि के लिए ही होता है, उसी प्रकार दंभ के द्वारा किया गया त्याग भी अत्याग के लिए ही होता है ।

जिस प्रकार बर्फ गिरने से कमल नष्ट हो जाता है, रोग से शरीर नष्ट हो जाता है, अग्नि से जंगल नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार हृदय में दंभ रखने से जीवन में किया गया धर्म भी नष्ट हो जाता है ।

माया करने से आत्मा का भयंकर अनर्थ होता है, यह जानकर जीवन में से दंभ का सर्वथा त्याग करना चाहिए ।

आगम शास्त्रों में कहा है कि जिस पापाचरण को करने से जो प्रायश्चित्त आता है, वही पाप मायापूर्वक किया जाय तो उससे दुगुना प्रायश्चित्त आता है । जो सरल नहीं है, उसके हृदय की शुद्धि नहीं होती है । लक्ष्मणा साध्वी ने मायापूर्वक पाप का प्रायश्चित्त किया था तो पाप का प्रायश्चित्त करने के बाद भी उसकी शुद्धि नहीं हो पाई थी ।

मायावी अविश्वसनीय बनता है

जिस प्रकार साँप शांति से बैठा हो फिर भी लोग उसका विश्वास नहीं करते हैं, बस, उसी प्रकार माया करके जो बदनाम हो गया है, वह व्यक्ति कभी माया न करे तो भी उसका कोई विश्वास नहीं करता है ।

जो व्यक्ति माया-कपट करता है, उसका कोई विश्वास नहीं करता है । मायावी व्यक्ति सर्वप्रथम अपने मित्र को खो देता है, क्योंकि मायावी व्यक्ति पर कौन विश्वास करेगा ?

क्रोध से प्रीति का नाश होता है तो माया से मैत्री का नाश हो जाता है अर्थात् मायावी से कोई भी व्यक्ति दोस्ती करना पसंद नहीं करता है ।

पाप के स्वीकार में बालक बनो

इंसान मात्र भूल का पात्र है । जीवन में जाने-अनजाने में कई भूलें हो जाती हैं, परंतु भूल हो जाने के बाद उन भूलों का हृदय से स्वीकार होना चाहिए । जो व्यक्ति अपनी भूलों को स्वीकार नहीं करता है, उस आत्मा की कभी शुद्धि नहीं होती है ।

भूलों की शुद्धि करने के लिए बालक जैसा हृदय होना चाहिए। बालक का हृदय दर्पण की भांति एकदम स्वच्छ होता है, उसे माया-कपट करना नहीं आता है। जो पाप जिस रूप में हो गया हो, उसे वह तुरंत स्वीकार कर लेता है। अतः आलोचना प्रायश्चित्त करते समय बालक की तरह सरल बनना चाहिए।

ससल्ले णो वसे खणं

शल्य सहित एक क्षण भी न रहे।

पाँव में काँटा लग जाय तो हम तुरंत ही उसे बाहर निकालने की कोशिश करते हैं। यदि काँटे को बाहर न निकाला जाय तो वह भविष्य में भयंकर तकलीफ दे सकता है।

जीवन में कोई पाप हो जाने के बाद उस पाप को छिपाना यह आत्मा का शल्य है। आत्मा में रहे इस शल्य को बाहर निकालना बहुत ही जरूरी है। समय रहते उस शल्य को बाहर नहीं निकाला जाय तो भविष्य में आत्मा की स्थिति अत्यंत ही भयंकर हो सकती है, अतः साधक आत्मा को शल्ययुक्त होकर एक क्षण भी नहीं रहना चाहिए।

देह के शल्य से भी आत्मा का यह शल्य अत्यंत ही खतरनाक है। देह का शल्य अल्प समय के लिए नुकसान करता है, जबकि आत्मा का यह शल्य अनेक भवों तक आत्मा को हैरान परेशान करता है। लक्ष्मणा साध्वी आदि के प्रसंगों को जानने के बाद तो अपनी आत्मा की शुद्धि के लिए एक क्षण भी प्रमाद नहीं करना चाहिए।

रोग को छिपाने से रोग घटता नहीं है, बल्कि बढ़ता ही जाता है, इसी प्रकार शल्य पूर्वक धर्म आराधना करने से आत्मा का रोग मिटता नहीं है, बल्कि यह रोग बढ़ता ही जाता है।

पाप की आलोचना भी शल्य रहित करे तो ही लाभ होता है।

जिन-जिन आत्माओं ने पाप को छिपाने की कोशिश की, उन-उन आत्माओं का संसार बढ़ा है और जिन्होंने शल्यरहित होकर अपने पापों का प्रायश्चित्त किया, वे आत्माएँ अल्पकाल में ही मोहमाया के बंधन से सर्वथा मुक्त बनी हैं।

साधक आत्मा का यह कर्त्तव्य है कि वह भूलकर भी आत्मा में शल्य को स्थान न दे ।

शुद्धिः स्याद् ऋजुभूतस्य

सरल आत्मा की शुद्धि होती है ।

जो आत्मा सरल है अर्थात् जिसमें माया-कपट की गाँठें नहीं हैं, उन्हीं आत्माओं की शुद्धि हो सकती है, उन्हीं आत्माओं का कल्याण हो सकता है । परंतु जो आत्माएँ मायावी हैं, कपटी हैं, उन आत्माओं का कभी कल्याण नहीं हो सकता हैं ।

मायावी व्यक्ति का जीवन मुख में राम और बगल में छुरी जैसा होता है ।

हाथी के चबाने के दाँत अलग होते हैं और दिखाने के दाँत अलग होते हैं । मायावी व्यक्ति बाहर से अलग दिखावा करता है और उसके भीतर कुछ और ही होता है ।

धागे में गाँठ आने के साथ ही जैसे सिलाई मशीन खटखटाने लगती है, उसी प्रकार हृदय में माया आने के साथ ही विकास की गति अवरुद्ध हो जाती है ।

लक्ष्मणा साध्वी ने 50 वर्ष तक कठोरतम तप किया था, परंतु हृदय में माया भाव होने के कारण उनकी शुद्धि नहीं हो सकी ।

यदि आप आत्म-विकास के मार्ग पर आगे बढ़ना चाहते हो तो एकदम सरल बन जाओ, **''मुख में राम, बगल में छुरी''** जैसी मायावीवृत्ति को सर्वथा तिलांजलि दे दो ।

पापी आत्मा को अपने पाप का पश्चात्ताप हो जाय तो उसका भी उद्धार हो सकता है, परंतु जो मायावी है, कपटी है, उसका उद्धार कभी संभव नहीं है, अतः सरल बनो, निष्कपट बनो ।

शुद्ध हृदय में ही प्रभु का वास होता है, परंतु जो व्यक्ति माया-कपट करता है, उसके हृदय में कभी प्रभु का वास नहीं होता है ।

आत्मा को ऊपर उठाना है तो हृदय को शुद्ध रखें ।

4 संतोषी बनें

निर्लोभता अर्थात् लोभ का अभाव, संतोषवृत्ति । लोभी व्यक्ति कभी संतोषी नहीं हो सकता । लोभी की भूख कभी शान्त नहीं हो सकती, उसे कितना भी प्राप्त हो जाय, वह कभी तृप्त नहीं होता । जिस प्रकार आकाश का कोई अन्त दिखाई नहीं देता, उसी प्रकार लोभी की इच्छा का कोई अन्त नहीं होता । जिस प्रकार भस्मक का रोगी कितना भी भोजन कर ले, उसकी भूख मिटती नहीं है, उसी प्रकार लोभी व्यक्ति को कितना ही प्राप्त हो जाय फिर भी उसकी इच्छा निवृत्त नहीं होती है ।

'प्रशमरति' में कहा गया है **'सर्वगुणविनाशनं लोभात्'** लोभ से सर्वगुणों का नाश होता है । जीवन में अत्यन्त कठिनाई से अन्य गुण-संपत्ति प्राप्त की हो, परन्तु लोभ के वशीभूत आत्मा उन सब गुण-सम्पत्ति का विनाश कर देती है, अतः आत्मविकास के लिए लोभ का सर्वथा त्याग कर देना चाहिए । निर्लोभी ही आत्मगुण-सम्पत्ति का संरक्षण करने में समर्थ है ।

जैन श्रमण पांच इन्द्रियों का विजेता होता है ।

* दीक्षा अंगीकार करने के साथ ही चार इन्द्रियों पर तो स्वतः अंकुश आ जाता है ।

* **साधु वेष का स्वीकार किया है, अतः स्त्री के स्पर्श व भोग आदि का स्वतः त्याग हो जाता है, क्योंकि दीक्षा के साथ ही ब्रह्मचर्य का पालन होता है ।**

* साधु T.V., Picture आदि नहीं देखता है, अतः आँख पर भी संयम आ जाता है ।

* **साधु फिल्मी गीत आदि नहीं सुनता है, अतः कान पर भी संयम आ जाता है ।**

* साधु सुगंधी पदार्थ नहीं सुंघता है, अतः घ्राणेन्द्रिय पर स्वतः अंकुश हो जाता है ।

परंतु रसनेन्द्रिय पर तो साधु को स्वयं ही नियंत्रण करना होता है ।

एक ओर श्रमण वेष को देख गृहस्थ उत्तम में उत्तम भोजन सामग्री से साधु की भक्ति करता है । परंतु साधु स्वयं खूब संतोषी होता है, अतः जहां तक हो, वह रसप्रद आहार का त्याग ही करता है ।

शरीर की अशक्ति आदि के कारण रसप्रद आहार लेना पडे तो भी वह कम से कम लेता है ।

उत्तराध्ययन सूत्र में भी कहा हैं–

'रसा पगामं न निसेवियव्वा ।' साधु को रसप्रद आहार अति प्रमाण में नहीं लेना चाहिए ।

धन्य है धन्ना अणगार को, जो दीक्षा लेकर छट्ठ के पारणे आयंबिल करते थे और आयंबिल में भी अत्यंत निरस आहार लेते थे । ऐसी स्थिति में भी उनकी मनःस्थिति वर्धमान परिणामवाली थी ।

स्वादिष्ट आहार के लोभ ने तो सिंह केसरिया मुनि का अधः पतन करा दिया था ।

मोदक के स्वाद की आसक्ति के कारण वे मासक्षमण जैसे दीर्घतप में भी सिंह केसरिया मोदक का ही ध्यान करते थे । मोदक की आसक्ति के कारण वे दिन-रात का भी विवेक चुक गए थे ।

परंतु जैसे ही उन्हें सत्यभान हुआ, वे पुनः मार्ग में स्थिर बन गए और केवलज्ञान पाकर मोक्ष में चले गए ।

रसना की आसक्ति के कारण रुप परावर्तन की लब्धि के धारक असाढाभूति मुनि का भी पतन हो गया था ।

साधु के लिए 42 दोषों से रहित भी भिक्षा यदि राग की पोषक बनती हो तो वह साधु के लिए हेय ही बनती है ।

– श्रमण को अपना जीवन निर्वाह भिक्षावृत्ति से करना होता हैं, उसमें सानुकूल भिक्षा मिल जाय तो अपनी **'संयमवृद्धि'** मानकर अनासक्त भाव से आहार लेना चाहिए और अनुकूल भिक्षा न मिले तो **'तपोवृद्धि'** मानकर प्राप्त भिक्षा में **'संतोषभाव'** धारण करना चाहिए ।

पूर्वकालीन महापुरुषों ने ठीक ही कहा है कि **''लोभ सभी पापों का बाप है ।''** अर्थात् सभी दुष्कृत्यों को जन्म देने वाला लोभ है । हम देखते हैं कि ज्यों-ज्यों लाभ बढ़ता है त्यों-त्यों लोभ देखने में आता है और लोभ के वश में पड़ा व्यक्ति अपने हित-अहित को भूल जाता है । लोभी व्यक्ति धन को ही सर्वस्व मान बैठता है और उस धन की वृद्धि के लिए वह अन्याय से भी नहीं ड़रता है, अनीति को ही धन-प्राप्ति का साधन मानता है । ग्राहक को लूटने में उसे आनन्द का अनुभव होता है ।

धन के लोभ में पड़कर व्यक्ति झूठ बोलता है, खोटे माप तौल रखता है-टैक्स आदि राजकीय चोरी करता है । धन की प्राप्ति के लिए अनेक प्रकार के माया-प्रपञ्च करता है, भोले व्यक्तियों को ठगता है, धान्य आदि का संग्रह कर बाजार में अनाज की कृत्रिम तंगी पैदा करता है और मनमाने भाव से वस्तुएँ बेचता है ।

महापुरुषों ने लोभ को सर्व आपत्तियों का स्थान कहा है । लोभी व्यक्ति उपार्जित धन का न तो उपभोग कर सकता है और न ही उसका दानादि में व्यय कर सकता है ।

धन की तीन गतियाँ हैं-दान-भोग और नाश । कृपण व्यक्ति कष्ट से उपार्जित धन को न तो दान में दे सकता है और न ही उसका उपभोग कर सकता है । ऐसे कृपण व्यक्तियों का धन नष्ट ही होता है ।

धन में अत्यन्त लुब्ध बना व्यक्ति अपने अर्जित धन को भी नहीं भोग पाता है, वह तो धन के लिए भूख और प्यास दोनों सहन करता है । समय पर न तो भोजन करता है और न ही समय पर सोता है । उसके दिमाग में तो रात और दिन धन, धन और धन ही घूमता है ।

अति लोभी व्यक्तियों की कैसी दुर्दशा होती है उसके लिए मम्मण सेठ का यह दृष्टान्त विचारणीय है ।

वर्षा ऋतु में एक दिन भयंकर मूसलाधार वर्षा हो रही थी, चारों ओर मेघ की गर्जनाओं से आकाश भयंकर बन चुका था । राजगृही नगरी के राजा श्रेणिक की महारानी झरोखे में बैठी हुई नगर का वर्षाकालीन दृश्य देख रही थी । चारों ओर पानी ही पानी

नजर आ रहा था । सम्पूर्ण नगर शून्य-अरण्य की तरह निर्जन बन चुका था अर्थात् नगर के मार्गों पर एक भी मनुष्य दिखाई नहीं दे रहा था ।

नगर के बाहर नदी में भयंकर बाढ़ आई हुई थी । उस उफनती नदी में एक व्यक्ति उसे तैरता हुआ दिखाई दिया, जो नदी में बहकर आए हुए लकड़ों को किनारे पर ला रहा था ।

रानी को उस व्यक्ति पर दया आ गई, उसने सोचा ''इसकी कैसी दयनीय स्थिति होगी, जो यह नदी के भयंकर प्रवाह में से भी लकड़ियाँ खींचने को विवश है ।''

रानी तुरन्त राजा के पास पहुँची और बोली-**''राजन् ! आप देवों की दुनिया में आनन्द मना रहे हैं और आपके प्रजाजनों की यह स्थिति ? देखो, वह व्यक्ति भयंकर बाढ़ में, अपने प्राणों की परवाह किये बिना लकड़ियाँ इकट्ठी कर रहा है ।''**

राजा ने भी वह दृश्य देखा । उसका हृदय भी दया से आर्द्र हो उठा । उसने तुरन्त अपने नौकरों को आदेश दिया और उस व्यक्ति का परिचय पुछवाया ।

राजा के नौकर नदी किनारे आये । उन्होंने उससे पूछा कि तुम मौत की परवाह किये बिना इस भयंकर बाढ़ में क्यों कूद रहे हो ?

उसने कहा-**''मेरे घर पर दो बैल हैं, परन्तु एक बैल के सींग नहीं हैं, उसके लिए मैं प्रयत्न कर रहा हूँ ।''**

नौकरों ने आकर राजा से यह बात कह दी तो राजा ने उसे बुलाकर कहा- **''मेरे गोकुल में से तुम्हे जो पसंद हो वे बैल ले जाओ ।''**

उसने कहा-**''मुझे ऐसे बैलों की जरूरत नहीं है । मेरे बैल देखिये, फिर बात कीजियेगा ।''**

राजा श्रेणिक अपने मंत्री-जनों के साथ मम्मण के घर गये । मम्मण श्रेणिक महाराजा को अपने घर के अन्तिम कक्ष में ले गया । वहाँ सोने से निर्मित रत्नजडित दो सुन्दर बैल थे । रत्नों के दिव्य प्रकाश से चारों ओर उज्ज्वल प्रभा छाई हुई थी । राजा तो विस्मय-विमुग्ध रह गया ।

*राजा बोला-``**अरे मम्मण ! इतनी संपत्ति होने पर भी तू यह क्या कर रहा है ?**''*

*मम्मण बोला-``**परन्तु एक बैल के दो सींग नहीं है, इसके लिए मैं यह प्रयत्न कर रहा हूँ ।**''*

राजा को बहुत ही आश्चर्य हुआ, क्योंकि उस बैल के शरीर पर जो रत्न जड़े हुए थे, उनकी कीमत तो सम्पूर्ण राज्य के दान से भी अधिक थी ।

*राजा ने पूछा-``**तू क्या खाता है ?**''*

मम्मण बोला-``चवले का साग और लूखी रोटी खाता हूँ ।''

परिग्रह की तीव्र ममता को देखकर राजा को अत्यंत दुःख हुआ । इस परिग्रह की ममता के कारण मम्मण मरकर सातवीं नरक भूमि में गया ।

लोभी व्यक्ति का जीवन पैंदे में छिद्र वाले घड़े की भाँति होता है । जिस प्रकार छिद्र वाले घड़े में कितना ही पानी भरा जाय वह थोड़ी ही देर में खाली हो जाता है, उसी प्रकार लोभी व्यक्ति को कितनी ही सम्पत्ति क्यों न प्राप्त हो जाय, उसे कभी तृप्ति नहीं होती है, उसे अपने धन से थोड़ा भी संतोष नहीं होता है ।

इस दुनिया में सबसे अधिक दुःखी कौन है ? इसका जवाब एक ही है कि अतुल सम्पत्ति का मालिक होने पर भी जो असंतोषी है, वही सर्वाधिक दुःखी है, दरिद्र है ।

स तु भवति दरिद्री यस्य तृष्णा विशाला ।
मनसि च परितुष्टः कोऽर्थवान् को दरिद्री ॥

स्पृहा-तृष्णा ही सभी दुःखों को निकट लाती है । स्पृहारहित सामान्य व्यक्ति भी महान् सुख का अनुभव कर सकता है और स्पृहा-युक्त धनाढ्य व्यक्ति भी भयंकर दुःख का ही अनुभव करता है ।

अति लोभी व्यक्तियों को शिक्षा देते हुए किसी कवि ने ठीक ही कहा है कि-

आया था जो सिकन्दर, दुनिया से ले गया क्या ?
थे दोनों हाथ खाली, बाहर कफन से निकले ।

राजाओं के राजा और मुल्कों के मालिक थे ।
सिकन्दर जब गया दुनिया से, दोनों हाथ खाली थे ।।

पाप का मूल-लोभ

सुखी बनने का मार्ग बताते हुए किसी महापुरुष ने लिखा है-

लोभ-मूलानि पापानि, रस-मूलानि व्याधयः ।
स्नेह-मूलानि शोकानि, त्रीणि त्यक्त्वा सुखी भव ।।

यदि आपको सुखी बनना है तो लोभ का त्याग करो, क्योंकि सभी पापों की जड़ लोभ है ।

यदि आपको सुखी होना है तो रसप्रद आहार का त्याग करो, क्योंकि रसप्रद आहार से ही सभी बीमारियाँ पैदा होती हैं ।

यदि आपको सुखी होना है तो बाह्य व्यक्तियों व पदार्थों के स्नेह को कम कर दो, क्योंकि स्नेह-राग ही शोक का मूल है ।

सुखी बनने की उपर्युक्त तीन शर्तें हैं । लोभ के कारण ही जीवन में सभी प्रकार के पाप आते हैं । जिसके जीवन में धन का लोभ आ जाता है, वह अवसर आने पर कोई पाप नहीं छोड़ेगा ।

लोभी क्या नहीं करता ?

किसी कवि ने ठीक ही कहा है-

``पूज्य पिता से लड़ता लोभी, भाई की हत्या करता ।
केवल नश्वर धन के खातिर, भयंकर युद्ध भी करता ।।

धन, राज्य और स्त्री का लोभ अत्यंत ही खतरनाक है ।

इतिहास के पृष्ठों पर जिनका नाम स्वर्णाक्षरों से अंकित है, ऐसे श्रेणिक महाराजा के नाम से कौन अपरिचित होगा ? जिनके रोम-रोम में महावीर प्रभु के प्रति अपूर्व भक्ति थी । प्रातः काल में उन्हें महावीर प्रभु के विहार की दिशा का ख्याल आता, उस दिशा में स्वर्ण के स्वस्तिक रचकर प्रभु के प्रति अपना आदर भाव व्यक्त करते थे । प्रभु के आगमन को सुनकर उनका देह रोमांचित हो जाता । प्रभुभक्ति के प्रभाव से ही जिन्होंने तीर्थंकर नाम कर्म उपार्जित किया था ।

ऐसे ही श्रेणिक महाराजा की कुलांगार संतान कोणिक ! जिस कोणिक ने राज्यप्राप्ति के लोभ से अपने उपकारी पिता को ही जेल के सिकंजों में ड़लवा दिया था । भयंकर बुरी हालत में रखते हुए उन्हें प्रतिदिन सौ-सौ हंटर लगवाता था ।

राज्य का लोभ इंसान के द्वारा कौनसा पाप नहीं कराता है ?

धन में लोभान्ध: अधमाधम

जगत् में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष ये चार पुरुषार्थ प्रचलित हैं, उनमें अर्थ और काम तो नाम के ही पुरुषार्थ हैं, क्योंकि अर्थ और काम आत्मा को संसार में भटकानेवाले हैं । दुर्लभ ऐसे मानव जन्म को प्राप्तकर मोक्ष के लक्ष्य पूर्वक एक मात्र धर्म पुरुषार्थ ही करने योग्य है ।

इसी जन्म में अथवा अल्प भवों में ही मोक्ष पाना हो तो उसके लिए **''सर्व-विरति''** धर्म की आराधना अनिवार्य है, परंतु जो आत्माएँ शारीरिक अशक्ति अथवा संसार के सुखों की आसक्ति के कारण सर्वविरति धर्म को स्वीकार करने के लिए उद्यमशील नहीं बन पाई हों, उन आत्माओं के उद्धार के लिए-उन आत्माओं के क्रमिक विकास के लिए देशविरति धर्म की साधना बताई गई है । वे आत्माएँ अर्थ और काम का संपूर्ण त्याग न कर, उन पापों का आंशिक त्याग करती हैं और उन पापों की एक मर्यादा बांध देती हैं । श्रावक जीवन के चौथे स्वदारासंतोष व्रत में काम के ऊपर अंकुश है और पांचवें परिग्रहपरिमाण व्रत में धन के ऊपर अंकुश है ।

परंतु जो आत्माएँ देशविरति धर्म पाने के लिए तैयार नहीं हैं, वे कम- से कम न्याय और नीति के द्वारा धन को और सदाचार के पालन द्वारा काम को अवश्य नियंत्रण में रखें ।

प्राथमिक कक्षा में सद्गृहस्थ के पास जो भी धन हो वह न्याय व नीति पूर्वक का होना चाहिए ।

श्रावक की भूमिका में न्यायपूर्वक अर्जित धन भी परिमित मात्रा में रखने की प्रतिज्ञा होती है और सर्वोच्च साधु जीवन की भूमिका में तो कुछ भी धन नहीं रखने की ही प्रतिज्ञा होती है ।

इस प्रकार आत्म-विकास की तीन भूमिकाएँ हैं-

1) सर्वोच्च साधु जीवन में **``धन''** मात्र का सर्वथा **त्याग** है ।

2) श्रावक जीवन की भूमिका में नीति के **``धन''** की भी **मर्यादा** है ।

3) सद्‌गृहस्थ की प्राथमिक कक्षा में धन की छूट है किंतु वह न्याय पूर्वक का होना अनिवार्य है ।

यदि आप में सामर्थ्य हो तो धन का सर्वथा त्याग कर साधु बन जाओ ।

इतना मनोबल न हो तो नीति पूर्वक के धन का, परिमाण निश्चित कर लो...और इतनी भी शक्ति न हो तो अन्याय के धन का त्याग कर दो अर्थात् जो भी धन होगा, वह न्याय पूर्वक का ही होगा ।

``अन्याय का धन मुझे नहीं चाहिए'' इस दृढ़ प्रतिज्ञा का नाम ही धर्म है ।

लोभ से सर्व गुणों का नाश

क्रोध से प्रीति का नाश होता है । मान से विनय का नाश होता है, माया से व्यक्ति विश्वास खो बैठता है, जबकि लोभ से सर्व गुणों का नाश होता है ।

लोभी व्यक्ति की क्षमा भी वास्तविक क्षमा नहीं होगी, परन्तु उस क्षमा में भी दंभ होगा । किसी को अच्छी तरह से ठगने के लिए लोभी व्यक्ति क्षमा भी धारण कर सकता है और अत्यंत ही नम्रतापूर्ण व्यवहार भी कर देता है । एक व्यापारी किसी ग्राहक को ठगने के लिए कितनी नम्रता से पेश आता है । उसका वह नम्रता गुण, गुण नहीं किंतु दंभ ही है, क्योंकि वह उस नम्रता का उपयोग भी किसी को ठगने के लिए ही कर रहा है ।

इससे स्पष्ट है कि लोभी व्यक्ति की क्षमा व नम्रता भी दूसरों को ठगने के लिए ही होती है ।

एक पैर पर खड़ा बगुला कितना शांत दिखाई देता है ? परन्तु उसकी वह शांति माया से परिपूर्ण होती है । बस, इसी प्रकार लोभी व्यक्ति का व्यवहार मायापूर्ण ही होता है ।

लोभी व्यक्ति अहिंसक नहीं हो सकता क्योंकि धन के लोभ में आकर वह किसी की हत्या भी कर सकता है ।

लोभी व्यक्ति सत्यवादी भी नहीं रह सकता, क्योंकि धन का लोभ उसे झूठ बोलने के लिए प्रेरित करता है ।

लोभी व्यक्ति अचौर्य व्रत का भी पालन नहीं कर सकता क्योंकि धन के लोभ में आकर वह कर Tax आदि की चोरी किए बिना नहीं रहता ।

लोभी व्यक्ति अपरिग्रही भी नहीं रह सकता क्योंकि धन की वृद्धि तो उसे प्राणों से भी अधिक प्यारी होती है ।

लोभी व्यक्ति दानवीर नहीं बन सकता क्योंकि धन तो उसका 11 वाँ प्राण होता है । धन का त्याग उसके लिए असह्य होता है । दान की बात आते ही उसे पसीना छूटने लगता है ।

कई लोभी व्यक्ति जिनवाणी (प्रवचन) का श्रवण भी नहीं करते हैं, क्योंकि उन्हें यह भय रहता है, व्याख्यान में कहीं दान की बात आ गई तो मुझे लाज शर्म से भी कुछ देना पड़ेगा, इसके बजाय तो व्याख्यान में जाए ही नहीं तो कम से कम इतना धन तो बच सकेगा ।

लोभी व्यक्ति स्वाध्याय नहीं कर सकता । वह तो यह सोचता है कि इतने घंटे व्यर्थ गँवायें, इसके बजाय तो दुकान पर बैठेंगे तो कितना व्यापार हो सकेगा ।

लोभी व्यक्ति मंदिर आदि धर्मस्थानों से दूर ही रहने की कोशिश करेगा, क्योंकि वह सोचेगा कि कहीं मंदिर में गया तो वहाँ शर्म से भी दो पैसे भंड़ार में ड़ालने पड़ेंगे, इसके बजाय मंदिर जाएँ ही नहीं तो कम-से-कम उस फालतू (?) खर्च से तो बचत हो सकेगी ।

संतोषी बनें, असंतोषी बनें

लोभी को ज्यों ज्यों मिलेगा त्यों त्यों असंतोष ही होगा । कहा भी है The more they get, the more they want उन्हें ज्यों-ज्यों अधिक मिलेगा, त्यों त्यों अधिक धन पाने की इच्छा बढ़ती ही जाएगी ।

चाणक्य नीति में कहा है-

``संतोषस्त्रिषु कर्तव्यः स्वदारे भोजने धने ।
त्रिषु नैव च कर्तव्योऽ ध्ययने जपदानयोः ॥''

मनुष्य को तीन जगह खूब संतोषी बनना चाहिए । अपनी पत्नी में संतोष भाव धारण करना चाहिए । परस्त्रीगमन आदि की इच्छा या प्रवृत्ति कभी नहीं करनी चाहिए ।

भोजन में संतोषी बनना चाहिए अर्थात् अधिक मात्रा में आहार लेने की इच्छा नहीं करनी चाहिए । क्योंकि ज्यादा आहार लेने से अजीर्ण पैदा होगा और अजीर्ण से अनेक रोग पैदा होंगे ।

धन के विषय में संतोषी बनना चाहिए क्योंकि धन का अधिक लोभ व्यक्ति को गलत मार्ग पर ले जाता है । धन का लोभ विनाश के मार्ग पर ले जाता है ।

उपर्युक्त तीन वस्तुओं में संतोषी बनें, किंतु अध्ययन, जाप और दान में कभी संतोषी नहीं बनना चाहिए ।

जो अध्ययन में संतोष रखता हैं, वह अध्ययन में आगे नहीं बढ़ पाएगा । अध्ययन में संतोष आलसीपने की निशानी है । प्रभु जाप में संतोष नहीं होना चाहिए, क्योंकि प्रभु के नाम का अधिकतम जाप आपको प्रभु के निकट ले जाएगा ।

दान में भी संतोष नहीं होना चाहिए । कितना भी दान देवें, फिर भी हम में यही भाव होना चाहिए कि मैंने कुछ भी दान नहीं किया है । दान में असंतोष, अधिक दान का प्रेरक बनेगा ।

5 तपस्वी बनें

तप अर्थात् जिससे आत्मा से कर्म अलग हो। **'तत्त्वार्थ सूत्र'** में कहा है-**'तपसा निर्जरा च।'**

तप से निर्जरा और संवर होता है। दीर्घ काल से आत्मा पर लगे हुए कर्मों को नष्ट करने का एक मात्र अमोघ साधन तप धर्म है। तप से निकाचित कर्म भी क्षीण हो जाते हैं। ज्ञानियों ने यह तप बारह प्रकार का बतलाया है।

अनशन, ऊणोदरी, वृत्तिसंक्षेप, रसत्याग, काय-क्लेश और संलीनता, ये बाह्य तप के छह भेद हैं।

प्रायश्चित्त, विनय, वैयावच्च, स्वाध्याय, कायोत्सर्ग और ध्यान ये अभ्यन्तर तप के छह भेद हैं।

तप अग्नि के समान है, जो कर्मरूपी ईंधन को जलाकर भस्मीभूत कर देता है।

वैषयिक-विकारों के उपशमन के लिए तप से श्रेष्ठ अन्य कोई उपाय नहीं है। हमें अपनी शक्ति के अनुसार तप धर्म का सेवन अवश्य करना चाहिए। विधिपूर्वक तप के सेवन से इन्द्रियां वश में आती हैं, कषाय उपशान्त होते हैं और कर्मों की निर्जरा होती है।

इन्द्रिय-विजय के लिए बाह्य तप का पुनः पुनः आसेवन करना चाहिए।

ट्रेन में इंजिन सबसे आगे होता है और गार्ड का डिब्बा पीछे होता है, इतने मात्र से गार्ड का महत्त्व कम नहीं हो जाता है। इंजिन भी चलता है, गार्ड के ईशारे पर।

नवपद तथा दश प्रकार के श्रमण धर्मों में तप का स्थान अंत में होने पर भी वह सर्वपदों में व्यापक है।

तारक तीर्थंकर परमात्मा अपने अंतिम भाव में भी इस तप धर्म की खूब-खूब उत्कृष्ट आराधना करते हैं। अपने छद्मस्थ काल में तीर्थंकर परमात्मा अपनी तप-साधना के द्वारा ही आत्मा पर लगे हुए कर्मों को जलाकर भस्मीभूत करते हैं।

नंदन ऋषि के भव में भगवान महावीर की आत्मा ने 11,80,645 मासक्षमण की उग्रसाधना के द्वारा अपूर्व कर्म-निर्जरा की थी...फिर भी बहुत से कर्म आत्मा में सत्ता में जम कर बैठे हुए थे...उन सत्तागत कर्मों को समाप्त करने के लिए अपने अंतिम भव में साढ़े बारह वर्ष तक घोरातिघोर तप-साधना की थी । साढ़े बारह वर्ष में प्रभु ने सिर्फ 349 दिन ही पारणें ठाम चोविहार एकासने से किए थे । शेष दिनों में प्रभु ने निर्जल तप किया था । प्रभु ने जघन्य से छट्ठ व उत्कृष्ट से छह मास उपवास किए थे । साढ़े बारह वर्ष में प्रभु का प्रमाद काल मात्र दो घड़ी अर्थात् अन्तर्मुहुर्त मात्र था ।

साढ़े बारह वर्ष तक प्रभु अधिकांशत: कायोत्सर्ग ध्यान में ही रहे हैं । प्रभु कभी भी जमीन पर लेटकर आराम से सोए नहीं थे ।

मोहराजा की आज्ञा से तप का सेवन

इस संसार में एक ओर तीर्थंकर परमात्मा की आज्ञा का शासन है तो दूसरी ओर चौदह राज-लोक में मोह का भी साम्राज्य है । तीर्थंकर की आज्ञा के पालन से आत्मा कर्म के बंधनों से मुक्त बनकर शाश्वत अजरामर पद प्राप्त करती है और मोह की आज्ञा के पालन से आत्मा इस चौदह राजलोक के मैदान में जहाँ-तहाँ भटकती रहती है ।

कर्म के बंधन से मुक्त बनने के लिए तारक परमात्मा ने 12 प्रकार के तप बतलाए है । उन तारक परमात्मा की आज्ञानुसार उस तप धर्म का सेवन किया जाय तो आत्मा कर्म से सदा के लिए मुक्त हो सकती है ।

संसारी आत्मा को इच्छा-अनिच्छा से भी इन तपों का सेवन तो करना ही पड़ता है । इच्छा पूर्वक करें तो आत्मा कर्म के बंधन से मुक्त बन सकेगी और अनिच्छा से करेगी तो आत्मा इस संसार में भटकेगी ।

मोह राजा की आज्ञा से कई लोग किस प्रकार इन 12 तपों का पालन करते हैं, उस ओर भी थोड़ी नजर कर लेते हैं ।

1. अनशन तप :– आपके पेट में दर्द हो रहा हो और आप डॉक्टर के पास जाते हो । आपकी Body Check करने के बाद डॉक्टर

कहता है कि आपके पेट में गांठ हो गई है, आपको Operation कराना पड़ेगा। ऑपरेशन के पूर्व डॉक्टर कहता है, '24 घंटे तक आपको कुछ भी भोजन नहीं लेना होगा।'

आप डॉक्टर की इस बात को स्वीकार करते हो या नहीं ? करते हो ! इसका मतलब है डॉक्टर के कहने से आप उपवास करने के लिए तैयार हो।

भयंकर अकाल के समय इन पशुओं को 3-3 दिन घास का एक तृण भी नहीं मिल पाता है। तीन दिन भूखें रहते हैं। परन्तु इच्छा से नहीं ! इस प्रकार मोहराजा जब भी भूखे रहने की आज्ञा करता है तब आप अनशन व्रत करने के लिए तैयार हो जाते हैं।

परन्तु आज अष्टमी है, चतुर्दशी है, आज आपको उपवास करना चाहियें...तो जरूर आप बहानेबाजी करोगे, **'मेरे से भूख सहन नहीं होती है'** मुझे आयंबिल का रूखा खुराक भाता नहीं है। मुझे बारबार भूख लग जाती है। इत्यादि।

2. ऊणोदरी :– आपका पाचन तंत्र खराब हो गया है। डॉक्टर कहता है **'आपको खुराक कम कर देना होगा।'** आपको थोड़ा-थोड़ा खाने का है। आप तुरंत ही डॉक्टर की बात स्वीकार कर लेंगें।

3. वृत्तिसंक्षेप :– पाचन-तंत्र की गड़बड़ी के कारण डॉक्टर कहता है आज दही और चावल ही खाना होगा। आपकी थाली में 15 वस्तुएँ है। आप क्या करोगे ?

13 को छोड़कर दही-चावल ही खाओगे न ? इस प्रकार शरीर के लिए वृत्तिसंक्षेप तप किया न ?

4. रस-त्याग :– दुध, दही, घी, तैल, गुड़ व तली हुई मिठाई ये छः विगई है। किसी को Heart Attack आ गया। डॉक्टर कहता है **'आज से आपको घी बंद कर देना होगा।'** आप को डायबिटीस् हो गया है, डॉक्टर कहता है, **'आपको गुड, शक्कर व मिठाई छोड देनी होगी।'** आप क्या करोंगें ? तुरंत ही त्याग कर दोगे न ?

शरीर के लिए आप रस त्याग करने के लिए तैयार हो।

5. कायक्लेश :– आपकी चर्बी बढ़ गई हो और डॉक्टर कहता है कि आपको रोज 2 Km Walking के लिए जाना होगा । आप जाते हो या नहीं ? इस प्रकार शरीर के स्वास्थ्य के लिए आप कायक्लेश भी सहन कर लोगे ।

6. संलीनता :– Heart attack आने पर डॉक्टर कह दे कि आपको Complete Bed Rest करना होगा तो आप करने के लिए तैयार हो जाओगे । आपके पैर में Facture हो गया है और डॉक्टर कहता है दो महिनें तक पैर को लंबा ही रखना होगा । आप डॉक्टर की बात मानोगे या नहीं ?

इस प्रकार शरीर के स्वास्थय के लिए आप बाह्य सभी छह तपों का सेवन करते हो ।

अभ्यंतर तप :–

1. प्रायश्चित :– अगले दिन ज्यादा भजीए खा लेने के कारण दश्तें लग गई हो और डॉक्टर कहे कि आज भूखा रहना पड़ेगा तो आप डॉक्टर के दिए हुए इस दंड को स्वीकार करते हो न ! इस प्रकार प्रायश्चित तप किया न !

2. विनय :– दिन में कितनी ही बार सरकारी ऑफीसर आदि को सलाम भरते हो न ! ग्राहक आदि के साथ विनय पूर्वक व्यवहार करते हो न !

3. वैयावच्च :– घर में बाल-बच्चे बीमार हो जाय तो उनकी सेवा चाकरी-वैयावच्च करते हो न !

4. स्वाध्याय :– प्रतिदिन घंटे भर तक अखबार पढ़ते हो न ? दुनिया भर के भाव-ताव जानने के लिए रोज अखबार का बराबर स्वाध्याय करते हो न !

5. कायोत्सर्ग :– आत्म कल्याण के लिए खड़े-खड़े कायोत्सर्ग करना हो तो आप अनेक बहाने बाजी करोगे, परन्तु रेल्वे की टिकिट विंडो (Ticket Window) पर टिकिट लेने के लिए डेढ़ घंटा कायोत्सर्ग की Position में खड़े रहते हो न !

6. ध्यान :– ध्यान तो आपका 24 घंटे चल ही रहा है । यहाँ बैठे-बैठे भी दुकान व घर के विचार आ जाते हैं न ! संसारी जीव सतत अर्थ व काम के ध्यान में डूबा हुआ है ।

इस प्रकार मोहराजा की आज्ञा से संसारी जीव 12 प्रकार के तपों का सेवन करता हैं । यदि प्रभु की आज्ञानुसार इन्हीं तपों का सेवन किया जाय तो आत्मा शीघ्र ही कर्मों के बंधन से मुक्त हो सकती है ।

सर्वज्ञ-सर्वदर्शी तीर्थंकर परमात्मा केवल ज्ञान की प्राप्ति के बाद भव्य प्राणियों के कल्याणार्थ धर्म तीर्थ की स्थापना करते हैं । सर्वज्ञ वीतराग परमात्मा प्ररुपित शासन अर्थात् जैनशासन वीतराग परमात्मा अपने केवलज्ञान रूप चक्षु के द्वारा जगत् के यथावस्थित स्वरूप को जानकर अशुभ कर्मों से मलिन बनी भव्यात्माओं के हितार्थ कर्म-मुक्ति का मार्ग बताते हैं ।

वीतराग परमात्मा की इस धर्म-देशना में विविध दृष्टिकोणों से तप धर्म का विश्लेषण किया गया है जिसके निम्नांकित कुछ उदाहरण प्रस्तुत है :–

(1) 9 तत्त्वों में तप धर्म :– परमात्मा ने जगत् के विस्तृत स्वरूप को नौ तत्वों में विभाजित किया है । ये 9 तत्व हैं, जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आश्रव, संवर, निर्जरा, बंध और मोक्ष । इन नौ तत्वों में सातवां जो निर्जरा तत्व है, वह तप स्वरूप है अर्थात् निर्जरा और तप एक दूसरे के ही पर्यायवाची शब्द के रूप में प्रचलित हैं ।

निर्जरा अर्थात् जिस प्रक्रिया से आत्मा पर लगे हुए कर्म क्षीण हो ! निर्जरा अर्थात् आत्मा के कर्ममल को धोने की प्रक्रिया । इस प्रकार निर्जरा तत्त्व से तप धर्म की महत्ता स्पष्ट हो जाती है ।

(2) नवपद में तप :– अरिहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु, ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप इन नवपदों में जैन शासन का अवतरण हुआ है, इनमें अंतिम पद है, तप ! प्रतिवर्ष आसो तथा चैत्र मास में सिद्ध चक्र की ओली की आराधना की जाती है उनमें इन्हीं नवपदों का आराधना व ध्यान किया जाता है ।

इस प्रकार तप-पद से तप-धर्म का महत्त्व स्पष्ट हो जाता है ।

(3) आत्मा के चार गुणों में तप :– नवपद अथवा सिद्धचक्र में अंतिम जो चार पद हैं, वे शुद्धात्मा के गुण स्वरुप है अर्थात् सम्यग् दर्शन, सम्यग् ज्ञान, सम्यक् चारित्र और सम्यक् तप ये शुद्धात्मा के ही गुण हैं । इस प्रकार सम्यक् तप शुद्धात्मा का गुण होने के कारण तप धर्म की महत्ता स्पष्ट हो जाती है ।

(4) धर्म के चार प्रकारों में तप :– वीतराग परमात्मा ने धर्म आराधना के चार प्रकार बतायें हैं–दान, शील, तप और भाव । इन चार धर्मों में तप का समावेश होने से तप धर्म की महत्ता का स्पष्ट ख्याल आ जाता है ।

इन चार धर्मों में प्रथम तीन धर्म त्याग रूप हैं और चौथा भावनात्मक धर्म हैं ।

इन प्रथम तीन धर्मों में क्रमशः धन, स्त्री व शरीर की मुर्च्छा का त्याग होता है । अर्थात् दान से धन की मुर्च्छा का त्याग, शील से स्त्री की मुर्च्छा का त्याग तथा तप से देह की मुर्च्छा का त्याग किया जाता है । सामान्यतः जीव में धन के प्रति मुर्च्छा होती है, परन्तु धन से भी अधिक मुर्च्छा स्त्री में होती है और स्त्री से भी अधिक मुर्च्छा स्वदेह में होती है । व्यक्ति अपने देह के रक्षण के लिए धन और स्त्री का भी त्याग करता है ।

इसलिए तो पाँच इन्द्रियों में रसनेन्द्रिय को जीतना अत्यंत कठिन कहा गया है । कहा भी गया है जिसने रसनेन्द्रिय को जीत लिया, उसने जगत को जीत लिया है । रसनेन्द्रिय के विजय बिना देह की ममता का त्याग असंभव है और इसी विजय के लिए तप धर्म का निर्देश है । इस प्रकार आद्य तीन धर्मों में तप धर्म की मुख्यता स्पष्ट हो जाती है ।

(5) धर्म के तीन प्रकारों में तप :– दशवैकालिक सूत्र की पहली गाथा में जिस धर्म को मंगल रूप कहा गया है उसके मुख्य तीन भेद बताये हैं, अहिंसा, संयम और तप । इन तीनों में अहिंसा मुख्य है, परन्तु उसका पालन संयम और तप धर्म के सेवन से ही संभव है । संयम और तप का पालन अहिंसा को ही पुष्ट करता है । इस प्रकार भी तप की महत्ता स्पष्ट हो जाती है ।

(6) दैनिक आवश्यकों में तप :– मुक्ति के आराधक साधु और श्रावक को छह क्रियाएँ अवश्य करने योग्य हैं। वे हैं सामायिक-चतुर्विंशति-स्तव, गुरुवंदन, प्रतिक्रमण, कायोत्सर्ग और प्रत्याख्यान। प्रत्याख्यान अर्थात् उपवासादि तप धर्म का सेवन। साधु और श्रावक को प्रतिदिन सुबह और शाम न्युनाधिक पच्चक्खाण का सेवन अवश्य करना चाहिये। प्रतिक्रमण और कायोत्सर्ग तो अभ्यंतर तप स्वरूप हैं ही, इससे भी तप की मुख्यता स्पष्ट हो जाती है।

(7) साधु जीवन में तपधर्म :– साधु श्रमण के आचारों का वर्णन करते हुए दशवैकालिक में श्रमण के लिए **'एगभत्तं च भोयणं'** कहा गया है, अर्थात् श्रमण नित्य तप एकाशना का सेवन करे। इससे भी तप की महत्ता स्पष्ट हो जाती है।

उपरोक्त चिंतन से स्पष्ट हो जाता है कि जैन शासन में तपधर्म का कितना अधिक महत्त्व रहा हुआ है।

तप का सेवन क्यों ?

एक सहज प्रश्न उठता है कि जैनशासन में तप का जो इतना अधिक महत्त्व है, उसके पीछे क्या रहस्य होगा ?

इस प्रश्न का समाधान करते हुए वीतराग परमात्मा फरमाते है कि तप के सेवन से देह की ममता का त्याग, रसना-जय तथा कषायों पर विजय प्राप्त किया जाता है।

देह ममत्व त्याग, रसना-जय तथा कषाय जय से कर्म क्षय होता है और कर्म क्षय से आत्मा शुद्धात्मा बन, अजरामर मुक्ति पद प्राप्त करती है।

तप सेवन के 3 हेतु :–

1. देह ममत्व त्याग :– अनादिकाल से संसारी आत्मा को स्वदेह पर अत्यंत ममत्व रहा हुआ है। स्वदेह पर रहे अत्यंत राग के कारण ही आत्मा अनेकविध पाप-आचरण करती है।

स्वदेह में ही आत्म बुद्धि के कारण मिथ्यात्व से ग्रस्त आत्मा, देह की पुष्टि के लिए हिंसा-अहिंसा का विचार नहीं करती है, पुण्य-पाप का विवेक नहीं करती है। मात्र स्वदेह में ही आसक्त दूसरों के सुख-

दु:ख का लेश भी विचार नहीं करती है । इस प्रकार स्वदेह के तीव्र ममत्व के कारण आत्मा पर पीड़ा का लेश भी विचार नहीं करती है । इस प्रकार अनेकविध पापों के आचरण के द्वारा आत्मा नये-नये कर्मों का अर्जन करती है और संसार के बंधनों में गिरकर अनेकविध दु:खों का अनुभव करती है ।

जब सद्गुरु के समागम से सन्मार्ग की प्राप्ति होती है और आत्म स्वरूप का ज्ञान होता है, तब आत्मा मिथ्यात्व रोग से मुक्त बनती है । इस प्रकार आत्मा के शुद्धात्म स्वरूप के बोध से देह और आत्मा की भिन्नता का ज्ञान होता है । इस प्रकार देह से भिन्न आत्मा के बोध से आत्मा, देह की ममता के त्याग के लिए तप धर्म का आसेवन करती है और इस प्रकार तप धर्म के निरन्तर अभ्यास से आत्मा, देह के भयंकर दु:खों में भी दृष्टा मात्र बनकर रहती है । इस प्रकार सम्यक्तप के आसेवन से आत्मा, देह के नाश में भी लेश भी दु:ख का अनुभव नहीं करती है ।

देह–ममता के त्याग बिना आत्म-सुख का संवेदन शक्य नहीं है और सम्यक्तप के आसेवन बिना देह ममता का त्याग शक्य नहीं है ।

तप धर्म के निरन्तर अभ्यास से व्यक्ति धीरे-धीरे सहनशील बनता है और देह के दु:खों को हंसते-हंसते सहन करता है ।

2. इन्द्रिय जय :– तपधर्म के सेवन का दूसरा मुख्य उद्देश्य है, इन्द्रिय जय ! अनादिकाल से संसारी आत्मा आहार-भय-परिग्रह और मैथुन इन चार संज्ञाओं के पराधीन बनी हुई है । इन चार संज्ञाओं को तोड़ने के लिए भगवान ने चार प्रकार के धर्मों का उपदेश दिया है । आहार की आसक्ति के त्याग के लिए तपधर्म का उपदेश है, भय की भ्रमणा के त्याग के लिए भाव-धर्म, परिग्रह की मुक्ति के लिए दानधर्म और मैथुन के त्याग के लिए शीलधर्म का उपदेश है ।

पाँच इन्द्रियों में रसनेन्द्रिय सबसे अधिक बलवान है । रसनेन्द्रिय के पोषण से ही अन्य इन्द्रियों की पुष्टि होती है । रसनेन्द्रिय का पराधीन अन्य इन्द्रियों का भी गुलाम बनता है । इन्द्रियाधीन पुरुष नानाविध दु:खों का अनुभव करता है ।

इन्द्रिय-जय के लिए तप का सेवन अनिवार्य है । विविध प्रकार के तपों के आसेवन से साधक भोजन के विविध रसों का त्याग करता है । इस प्रकार रस-त्याग के क्रमशः अभ्यास से साधक धीरे-धीरे रसनेन्द्रिय को अपने वश में कर लेता है । आहार की आसक्ति के त्याग बिना इन्द्रिय-जय शक्य नहीं है और तप के निरन्तर आसेवन बिना आहार की आसक्ति का त्याग भी शक्य नहीं है । इस प्रकार इन्द्रिय-जय के लिए तप का आसेवन अनिवार्य हो जाता है ।

3. कषाय जय :– क्रोध, मान, माया और लोभ ये चार कषाय आत्मा के अंतरंग शत्रु है । तप का मूलभूत उदेश्य कषायों का जय करना है । कषायों के जय में ही तप की सार्थकता है ।

ज्ञानसार में कहा गया है...**'कषायाणं च तथा हतिः तत्तपः शुद्धमिष्यते !** जहाँ कषायों की हानि होती है, वही तप शुद्ध कहलाता है ।

तप का सेवन कषायों की हानि के लिए है अर्थात् कषायों की हानि का लक्ष्य बनाकर तप का आसेवन करने का है । जिस क्रिया अथवा कष्ट में कषायों को क्षय करने का ध्येय नहीं है अथवा लेश भी कषायों की हानि नहीं है, वह क्रिया अथवा कष्ट तप रूप नहीं कहला सकता है, वह मात्र कायकष्ट ही है । तप के बाह्य आडंबर के भीतर आहार की आसक्ति को ही पुष्ट करना और कषायों में लेश भी कमी न करना मात्र तप का ढोंग ही है । ऐसे ढोंग ढकोसले से व्यक्ति अपने स्वार्थ को सिद्ध कर देता है, परन्तु अपने वास्तविक परमार्थ को तो खो बैठता है ।

तप का फल समता है । यदि कोई तपस्वी दीर्घकालीन तप करने के बाद भी उतना ही तपता है, उतना ही धमधमता है, उतना ही क्रोध करता है तो वास्तव में ज्ञानियों की दृष्टि में उसने तप का आसेवन किया ही नहीं है ।

बाह्यतप की साधना अभ्यंतर तप की पुष्टि के लिए ही है । अभ्यंतर तप की पुष्टि में ही बाह्य तप की सफलता है । कषायों की हानि बिना अभ्यंतर तप का सेवन शक्य नहीं है । तप के सेवन में समतादि अभ्यंतर गुणों का अभ्यास करने का है ।

इस प्रकार देह ममत्व त्याग, इन्द्रिय-जय और कषायों की हानि, इन तीनों की पूर्ति तप के सेवन से होती है और तपस्वी को भी चाहियें कि वह भी इन तीनों को लक्ष्य में रखकर ही अपनी शक्ति के अनुसार तप का आचरण करें ।

यदि अपनी शक्ति के अनुसार तथा लक्ष्य को ध्यान में रखकर निरन्तर तपधर्म का आसेवन किया जाय तो आत्मा अवश्य ही अशुभकर्मों से मुक्त बनकर परमपद को प्राप्त कर सकती है ।

तप के भेद-प्रभेद :–

जैनशासन में मुक्तिमार्ग की आराधना की व्यवस्था इतनी सुगम, सरस और लचीली है कि आबाल-वृद्ध अपनी-अपनी योग्यता व शक्ति के अनुसार सुंदर आराधना कर सकते हैं और क्रमशः आत्म-मुक्ति के पथ पर आगे बढ़ सकते हैं । तप के विषय में भी इसी प्रकार की सुगमताएँ जैनशासन में रही हुई है । तप के विभिन्न भेद इस प्रकार बताये गये हैं कि एक छोटासा बालक भी आसानी से तपधर्म का आसेवन कर सकता है ।

तप के मुख्य दो भेद है ।

1. बाह्यतप 2. अभ्यंतर तप ।

1. बाह्यतप :– इस तप में बाह्य पदार्थों का त्याग किया जाता है । इस तप के सेवन में देह को कष्ट होता है जो अन्य व्यक्तियों के द्वारा प्रत्यक्ष देखा जा सकता है । इस तप में बाह्य-द्रव्य (भौतिक) पदार्थों का त्याग होने के कारण इसे बाह्यतप कहते हैं अथवा दूसरों को प्रत्यक्ष होने के कारण और अजैन के द्वारा भी किया जाने के कारण बाह्यतप कहते हैं ।

इस तप के निम्न छह भेद हैं ।

1. अनशन :– जिस तप में चार प्रकार के आहार का सर्वथा त्याग किया जाता है, उसको अनशन कहते हैं । चार प्रकार के आहार निम्न है ।

(क) अशन :– जिस पदार्थ के खाने से क्षुधा की तृप्ति हो, उसे अशन कहते हैं । उदाहरणः रोटी, चावल आदि धान्य से बने पदार्थ, दूध-दही आदि, सभी प्रकार के मिष्टान्न आदि ।

(ख) पान :– पान अर्थात् पानी, जिससे तृषा शांत हो ।

(ग) खादिम :– भूंजे हुए चने, गेहूं आदि । दांतों को व्यायाम देने वाले गूंद, चने, फूली, गंडेरी, मिश्री, खजूर, नारियल, द्राक्ष, अखरोट, बादाम आदि सुखे मेवे (Dry Fruits) ककडी, आम, केले, अमरुद आदि फल ।

(घ) स्वादिम :– जिन वस्तुओं के खाने से क्षुधा तृप्ति नहीं होती हो बल्कि कुछ स्वाद मिलता हो । उदाहरण: सूंठ, जीरा, अजमा आदि ।

अनशन तप में उपरोक्त चारों प्रकार के आहारों का त्याग होता है ।

काल की अपेक्षा से अनशन तप के दो भेद है ।

A. इत्वर अनशन :– जिसमें मर्यादित काल के लिए चार प्रकार के आहार का त्याग किया जाता है, उसे इत्वर अनशन कहते हैं ।

इसमें न्युनतम नवकारसी का पच्चक्खाण होता है और अधिकतम यह छह मास तक किया जाता है ।

B. यावज्जीविक अनशन :– जिसमें जीवन पर्यंत चार प्रकार के आहार का त्याग किया जाता है, उसे यावज्जीविक अनशन कहते हैं ।

2. ऊणोदरी :– भूख से कुछ कवल कम भोजन करना, ऊणोदरी तप कहलाता है । सामान्यत: पुरुष का भोजन बत्तीस कवल तथा स्त्री का भोजन अट्ठाइस कवल का होता है, इस प्रकार क्षुधा से कम भोजन होने से यह ऊणोदरी (ऊण-न्युन, उदर-पेट) कहलाता है । यह तप अनशन (इत्वर) पूर्वक भी किया जा सकता है और अनशन (इत्वर) रहित भी किया जा सकता है । स्थूल दृष्टि से यह तप अनशन की अपेक्षा सामान्य लगता है, परन्तु इसका पालन अनशन से भी कठिन है, जो अनुभव-सिद्ध है ।

3. वृत्तिसंक्षेप :– भोजन के पदार्थों की संख्या को कम करना वृत्तिसंक्षेप तप है । साधुओं की अपेक्षा वृत्ति अर्थात् गोचरी और उसका संक्षेप अर्थात् द्रव्य-क्षेत्र तथा कालादि को ध्यान में रखकर विविध अभिग्रह धारण करना ।

इस प्रकार यह तप पूर्व के तप की अपेक्षा और भी कठिन है । विविध प्रकार के भोजन तैयार हो और स्वयं खाने में शक्तिमान हो,

फिर भी भोजन के पदार्थों की संख्या कम करके जो त्याग किया जाता है, वह वास्तव में अत्यंत कठिन है ।

4. रस त्याग :– रस अर्थात् विगई ! भक्ष्य विगई छह है । 1. दूध, 2. दही, 3. घी, 4. तैल, 5. गुड़, 6. पक्वान्न । इन छह विगइयों में से सभी का अथवा एक-दो का त्याग करना रस-त्याग तप है ।

विगइयों के सेवन से आहार की आसक्ति बढ़ती है, इसलिए विगई को विकृति जनक और विगति (दुर्गति) का कारण भी कहा गया है ।

इस तप के सेवन से आहार की आसक्ति घटती है अतः मुमुक्षु आत्माओं को अवश्य ही इस तप का प्रतिदिन सेवन करना चाहियें ।

5. काय-क्लेश :– जिस तप में काया को इच्छापूर्वक कष्ट दिया जाता है, उसे कायक्लेश तप कहते हैं । उदाहरण केश-लुंचन करना, पादविहार करना, शरीर की शुश्रुषा का त्याग करना, विविध प्रकार के आसन करना इत्यादि ।

इस तप के नियमित आसेवन से सहनशीलता बढ़ती है और व्यक्ति अधिकाधिक कष्ट को सहन करने में समर्थ बनता है ।

6. संलीनता :– जिस तप में अंग-उपांग का संकोच किया जाता है, उसे संलीनता तप कहते हैं । एक ही आसन पर घंटों तक बैठना, एकांत व श्मशान भूमि आदि में कायोत्सर्ग आदि में खड़े रहना आदि संलीनता तप है ।

2. अभ्यंतर तप :–

जिस तप में आत्मगुणों का विकास मुख्य है । जो तप अभ्यंतर साधना रूप है तथा जिसका आसेवन करने पर भी बाहर से न दिखने के कारण **'तपस्वी'** इस प्रकार कोई नहीं कहता है अथवा यह तप गुप्त तथा अंतरंग होने के कारण अभ्यंतर तप कहलाता है ।

इसके भी छह भेद होते हैं :–

1. प्रायश्चित :– मूलगुण अथवा उत्तर गुण, महाव्रत अथवा अणुव्रत आदि के पालन में जो कोई भी जान बुझकर अथवा अनजान में स्खलना हुई हो, उसको गुरु-समक्ष प्रकट कर उस पाप की शुद्धि करना-प्रायश्चित कहलाता है ।

प्रायश्चित का अर्थ है जिससे बहुलतया चित्त की शुद्धि हो । इस प्रायश्चित के आलोचन, प्रतिक्रमण, मिश्र, विवेक, कायोत्सर्ग, तप, पर्याय-छेद, मूल-छेद, अनवस्थाप्यता तथा पारांचित ये दस भेद है ।

2. विनय :– गुरु-ज्येष्ठ-आचार्य तथा लौकिक उपकारी माता-पिता आदि का विनय-बहुमान करना । विनय से आत्मा के कर्म का विनयन (विगमन) होता है । मोक्ष के साधनभूत ज्ञान-दर्शन तथा चारित्र के उपकरण तथा उनके धारक का बहुमान करना विनय तप है ।

3. वैयावच्च :– निराशंस भाव से तथा कर्म-क्षय के निमित्त साधु-समुदाय की सेवा-भक्ति करना वैयावच्च तप है । वैयावच्च यह एक अप्रतिपाती गुण है । इस तप की साधना अत्यंत कठिन है । अपने उपकारी गुरूदेव, आचार्य, उपाध्याय, स्थविर, तपस्वी, बाल, ग्लान, साधर्मिक तथा कुल व गण के साधुओं की सेवा भक्ति करने से महान् कर्म निर्जरा होती है ।

4. स्वाध्याय :– ज्ञानाचार के नियमों के पालन पूर्वक शास्त्रीय ग्रंथों का पठन-पाठन करना स्वाध्याय नाम का चौथा अभ्यंतर तप है । स्वाध्याय से ज्ञान वृद्धि होती है और ज्ञान से सन्मार्ग का बोध होता है । स्वाध्याय के 5 भेद है ।

1. वाचना :– गुरु मुख से पाठ ग्रहण करना ।

2. पृच्छना :– शंकास्पद पदार्थों का स्पष्टीकरण करना ।

3. परावर्तना :– किये हुए अभ्यास का पुनः आवर्तन करना ।

4. अनुप्रेक्षा :– ग्रहण किये पाठ के विषय में तत्त्व चिंतन मनन करना ।

5. धर्मकथा :– तत्त्व की चर्चा करना, विचार-विमर्श करना, उपदेश देना आदि ।

5. ध्यान :– ध्यान अर्थात् मन को एकाग्र करना । यहां ध्यान तप से तात्पर्य आत्म हितकारी शुभपदार्थों में मन को एकाग्र करना ।

शुभ ध्यान के दो भेद है :– धर्मध्यान और शुक्लध्यान ।

धर्म ध्यान के पुनः चार भेद हैं ।

1. आज्ञा विचय :– परमात्मा की आज्ञा तथा उसके माहात्म्य का चिंतन करना ।

2. अपाय विचय :– राग, द्वेष से होने वाले अनर्थों का चिंतन करना ।

3. विपाक विचय :– कर्म के शुभ तथा अशुभ फल का चिंतन करना ।

4. संस्थान विचय :– विश्व के स्वरूप का चिंतन करना ।

शुक्लध्यान के भी चार भेद होते हैं ।

1. पृथक्त्व वितर्क सविचार :– श्रुतज्ञान के आलंबन द्वारा जड़ तथा चेतन के विभिन्न पर्यायों का विचार करना ।

2. एकत्व वितर्क निर्विचार :– श्रुत ज्ञान के आलंबन द्वारा आत्मादि द्रव्य के एक ही पर्याय का चिंतन करना । इस ध्यान की पूर्णाहूति के साथ ही आत्मा घातिकर्मों का क्षय कर केवलज्ञान प्राप्त करती है ।

3. सूक्ष्म क्रिया अप्रतिपाती :– मन वचन तथा काया की सर्व प्रवृत्तियों का निरोध करना ।

4. समुच्छिन्न क्रिया अनिवृत्ति :– आत्म प्रदेश के सर्वथा निष्कंप होने पर यह ध्यान होता है । इस ध्यान का काल पाँच ह्रस्वाक्षर (अ, इ, उ, ऋ, लृ) के उच्चारण जितना ही है । इस ध्यान के साथ ही आत्मा सर्व कर्मों का क्षय कर अजरामर पद प्राप्त करती है ।

6. कायोत्सर्ग :– काय + उत्सर्ग अर्थात् काया की ममता का त्याग । अनादिकाल से जो देह की ममता रही हुई है, उसके त्याग का अभ्यास कायोत्सर्ग तप के द्वारा किया जाता है । प्रारम्भिक अवस्था में साधक मर्यादित श्वासोच्छ्वास पर्यंत (काया की ममता के त्याग के लिए) कायोत्सर्ग करता है और धीरे-धीरे उसमें वृद्धि कर सकता है । कायोत्सर्ग में शुभध्यान ही किया जाता है ।

सदोषमपि दीप्तेन सुवर्णं वह्निना यथा ।
तपोऽग्निना तप्यमानस्तथा जीवो विशुध्यति ।।

चरम तीर्थपति देवाधिदेव भगवान महावीर परमात्मा के शासन के परमार्थ को पाए हुए कलिकाल सर्वज्ञ सम्राट् कुमारपाल प्रतिबोधक **आचार्य श्री हेमचन्द्रसूरीश्वरजी म.** ने स्वरचित **'योगशास्त्र'** नाम के

ग्रंथ में वीतराग-परमात्मा के द्वारा निर्दिष्ट निर्जरा तत्त्व अर्थात् तप धर्म का माहात्म्य बताते हुए बहुत ही सुंदर बात कही है–

जिस प्रकार खान में से निकला हुआ मलिन स्वर्ण तेज आग में तपने के बाद शुद्ध होता है ।

उसी प्रकार कर्म से मलिन बनी हुई आत्मा तप रुपी अग्नि के ताप से शुद्ध होती है ।

आत्मा पर लगे हुए निकाचित कर्मों को भी जलाकर नष्ट करने की ताकत इस तप धर्म में रही हुई है ।

शुद्ध तपधर्म के पालन से संपूर्ण अहिंसा और संयम धर्म का पालन हो सकता है ।

प्रभु वीर ने यह तप बारह प्रकार का बताया है । आओ ! हम तप और तपस्वियों को भावपूर्वक याद कर अपने जीवन को सफल बनाएँ ।

यह तप आशंसा रहित और समतापूर्वक करना चाहिए ।

1. अनशन तप :– यह तप दो प्रकार से होता है । (1) अल्पकालीन (2) जीवन पर्यंत ।

नवकारसी, पोरिसी, साढ़पोरिसी, पुरीमुड्ढ, बियासना, एकासन, नीवी, आयंबिल तथा उपवास आदि अल्पकालीन अनशन के भेद हैं ।

(2) यावज्जीव अनशन में चारों आहार का जीवन पर्यंत के लिए त्याग किया जाता है ।

अनशन-तपस्वियों को वंदन :–

1) भगवान महावीर ने अपने पच्चीसवें नंदन ऋषि के भव में 1180645 मासक्षमण किये थें । उन नंदनमुनि को कोटि कोटि वंदन ।

2) 400 दिन के चौविहार उपवास करनेवाले ऋषभदेव प्रभु को कोटि कोटि वंदन हो ।

3) वृक्ष की भाँति एक ही जगह पर 12 मास तक कायोत्सर्ग में स्थिर रहकर चोविहार उपवास करनेवाले बाहुबलीमुनि को कोटि-कोटि वंदन हो ।

4) 54000 वर्ष तक छट्ठ के पारणे छट्ठ करनेवाले नंदिषेणमुनि को कोटि-कोटि वंदन हो !

5) वैभार गिरि पर्वत की धगधगायमान शिला पर 1 मास का अनशन करनेवाले शालिभद्र और धन्ना अणगार को हार्दिक वंदन ।

6) सम्राट् अकबर को जगद्गुरु हीरसूरिजी म. के दर्शन में निमित्त बननेवाली छह मास उपवास की तपस्विनी चंपा श्राविका को भावपूर्वक वंदन हो ।

7) कार्तिक पूनम के दिन 10 करोड़ मुनियों के साथ अनशन पूर्वक मोक्ष प्राप्त करनेवाले द्राविड़ और वारिखिल्ल मुनियों को लाख-लाख वंदन हो ।

8) चैत्र पूनम के दिन 1 मास के अनशन पूर्वक 5 करोड़ मुनियों के साथ शाश्वत मोक्ष पद पानेवाले पुंडरीकस्वामी आदि को हाथ जोड़कर कोटि-कोटि वंदन हो ।

9) आसो पूनम के दिन 20 करोड़ मुनियों के साथ सिद्धवस्था प्राप्त करनेवाले पाँच पांडवों को कोटि कोटि नमस्कार हो ।

10) **सम्मेतशिखर तीर्थ पर 1 मास क्षमण पूर्वक पादपोपगमन अनशन कर मोक्ष पद पानेवाले अजितनाथ आदि बीस तीर्थंकर परमात्मा को अनंतशः वंदन हो ।**

11) एक बार संयम से भ्रष्ट होकर पुनः माता की प्रेरणा से संयम स्वीकार कर उसी दिन अंगारे जैसी शिला पर अनशन कर केवलज्ञान पाकर मोक्षपद पानेवाले **अरणिक** मुनिवर को कोटि कोटि वंदन हो ।

आयंबिल के तपस्वी

12 वर्ष की उम्र में दीक्षा अंगीकार कर जीवन पर्यंत छह विगई का त्याग करनेवाले **आचार्य भगवंत शीलभद्रसूरिजी** थे ।

कक्कसूरिजी म. ने 12 वर्ष तक छट्ठ के पारणे आयंबिल किया था ।

सनतकुमार चक्रवर्ती ने पूर्वभव में वर्धमान तप पूरा किया था, जिसके प्रभाव से लोकोत्तर रूप प्राप्त हुआ था ।

महासती दमयंती ने पूर्व भव में 504 अखंड आयंबिल से तीर्थंकर तप कर 24 भगवान के ललाट में हीरे के तिलक लगाये थे ।

✻ जंबुस्वामी ने पूर्व भव में 12 वर्ष तक छट्ठ के पारणे आयंबिल किये थे ।

✻ **धन्ना अणगार ने जीवन पर्यंत छट्ठ के पारणे आयंबिल किये थे ।**

–वीर प्रभु की 44 वीं पाट पर हुए **जगच्चंद्रसूरिजी म.** ने जीवन पर्यंत आयंबिल किये थे ।

2) ऊणोदरी तप :– इसके दो भेद हैं 1) द्रव्य ऊणोदरी 2) भाव ऊणोदरी ।

(1) द्रव्य ऊणोदरी के दो भेद हैं– 1) उपकरण ऊणोदरी और 2) आहार-पानी ऊणोदरी ।

(1) उपकरण ऊणोदरी जिनकल्पी का अभ्यास करनेवाले स्थविर कल्पी मुनियों को होती है, अन्य को नहीं । अथवा अतिरिक्त उपकरणों का त्याग करने से अन्य मुनियों को भी हो सकती है ।

(2) आहार पानी ऊणोदरी अर्थात् स्वयं की भूख से कम आहार पानी लेना ।

(2) भाव ऊणोदरी :– जिनवचन से भावित होकर अपने क्रोध आदि कषायों का त्याग करना ।

3. वृत्ति संक्षेप तप :–

साधु को प्रतिदिन आहार-पानी संबंधी नए-नए अभिग्रह धारण करना वृत्ति संक्षेप तप है । इस तप में आहार पानी के द्रव्यों का संक्षेप भी किया जाता है ।

श्रावकों को प्रतिदिन सचित्त-द्रव्य आदि चौदह नियमों की धारणा करना भी वृत्ति संक्षेप तप है ।

1) द्रव्य-क्षेत्र-काल और भाव से भीष्म अभिग्रह कर 175 चोविहार उपवास का पारणा सिर्फ उड़द के बाकुलों से करनेवाले **महावीर प्रभु** को कोटि कोटि वंदन हो ।

2) छट्ठ के पारणे आयंबिल में अत्यंत नीरस आहार लेनेवाले वर्धमान परिणामवाले **धन्नाकाकंदी अणगार** को कोटि कोटि वंदन हो ।

3) आत्मलब्धि से प्राप्त आहार लेने का अभिग्रह लेनेवाले छह मास के उपवासी **ढंढण अणगार** को भावभरी वंदना हो ।

4) जीवन पर्यंत 11 द्रव्यों का ही उपयोग करनेवाले गुजरात के महामंत्री वस्तुपाल को सविनय प्रणाम हो ।

6) भक्त के घर की गोचरी के त्याग का अभिग्रह करनेवाले **पू. मानदेवसूरिजी** एवं **पू. बप्पभट्टीसूरिजी म.** को कोटि कोटि वंदन हो ।

4) रसत्याग : दूध-दही आदि विगइयों का मर्यादित समय के लिए अथवा जीवन भर के लिए त्याग ।

1) 800 चौबीसी तक जिनका नाम अमर रहेगा, ऐसे वर्धमान तप के तपस्वी श्रीचंद्र केवली को कोटि कोटि वंदन हो ।

2) आचार्य पदवी के प्रसंग पर जीवन पर्यंत छह विगइ का त्याग करनेवाले **बप्पभट्टीसूरिजी म.** को कोटि कोटि वंदन हो ।

3) वस्तुपाल के स्वर्गवास बाद जीवन पर्यंत आयंबिल करनेवाले **वर्धमानसूरिजी म.** को कोटि कोटि वंदन हो ।

4) जीवन पर्यंत छह विगइ का त्याग करने वाले **पू. आचार्य श्री धर्मघोषसूरिजी म.** को कोटि कोटि वंदन हो ।

5) जीवन पर्यंत आयंबिल करनेवाले **पू. जगच्चंद्रसूरिजी म.** को कोटि कोटि वंदन हो ।

6) 12 वर्ष तक छट्ठ के पारणे आयंबिल करनेवाले **शिवकुमार मुनि** को कोटि कोटि वंदन हो ।

7) 60000 वर्ष तक आयंबिल तप करनेवाली **सुंदरी श्राविका** को कोटिशः वंदन हो ।

8) नौ वर्ष तक अखंड आयंबिल के तपस्वी **पू. सिद्धसेनदिवाकर-सूरिजी** को कोटिशः वंदन हो ।

9) वर्धमान तप की 100 + 100 + 100 + 76 ओली करनेवाली **पू.सा. श्री हंसकीर्तिश्रीजी** को वंदन हो ।

10) वर्धमान तप की 100 + 100 + 89 ओली के आराधक **पू. आ. श्री राजतिलकसूरिजी म.** को वंदन हो ।

11) निरंतर 10,000 से भी अधिक आयंबिल के तपस्वी एवं आजीवन आयंबिल के इच्छुक **आ. श्री हेमवल्लभसूरिजी म.** को वंदना ।

5) काय क्लेश :– शरीर को कष्टदायी वीरासन आदि आसन में बैठना तथा केशलोंच आदि कष्ट सहन करना । 22 परीषहों को सहना भी कायक्लेश तप है ।

1) हाथी के भव में तीन दिन तक एक पाँव ऊँचा कर कायकष्ट सहन करनेवाली मेघमुनि की आत्मा को वंदन हो ।

2) दीक्षा के दिन श्मशान में जाकर प्राणांत उपसर्ग को सहन करनेवाले अवंति सुकुमाल मुनि को वंदन हो ।

3) मरणांत उपसर्ग में भी शरीर की ममता धारण नहीं करनेवाले **सुकोशलमुनि** को वंदन हो ।

4) 700 वर्षों तक रोग परीषह को सहन करनेवाले सनत्कुमार **चक्री मुनि** को वंदन हो ।

5) चींटियों द्वारा शरीर को खा जाने पर भी समताभाव में रहनेवाले **चिलातीपुत्र मुनि** को वंदन हो ।

6 संलीनता :–

1) द्रव्य संलीनता :– स्त्री नपुंसक से रहित एकांत आसन और शयन पर रहना ।

2) भाव संलीनता :–

1) इन्द्रिय संलीनता :– इन्द्रियों के अनुकूल विषयों में राग व प्रतिकूल विषयों में द्वेष नहीं करना ।

2) योग संलीनता :– मन, वचन और काया के अकुशल योगों का निरोध व कुशल योगों में प्रवर्तन ।

3) कषाय संलीनता :– उदय में नहीं आए कषायों का निरोध एवं उदय में आए कषायों को निष्फल करना ।

अभ्यंतर तप

प्रायश्चित्त :– इसके 10 भेद हैं । इनमें अंतिम दो प्रायश्चित्त अनवस्थाप्य और पारांचिक का चौदह पूर्व के विच्छेद के साथ विच्छेद हो गया है ।

अन्य 8 भेद :–

1) आलोचन :– गुरु के आगे अपने अपराध को स्वीकार करना ।

2) प्रतिक्रमण :– गमनागमन की क्रिया में लगे दोषों की शुद्धि के लिए इरियावहिय करना ।

3) मिश्र :– गुरु समक्ष पाप का स्वीकार करना और गुरु के आदेश से मिच्छामि दुक्कडम् देना ।

4) विवेक :– गोचरी में अकल्प्य आहार आ गया हो तो विधिपूर्वक उसका त्याग करना (परठना) ।

5) व्युत्सर्ग :– कुस्वप्न व दु:स्वप्न के दोष निवारण के लिए कायोत्सर्ग करना ।

6) तप :– जीव हिंसा आदि के अपराध निवारणार्थ गीतार्थ गुरु दत्त तप का सेवन करना ।

7) छेद :– निष्कारण दोष सेवन करनेवाले के अमुक दीक्षा पर्याय का छेद करना ।

8) मूल :– बड़े पाप के सेवन करनेवाले को पुन: दीक्षा देना ।

1) महावीर प्रभु द्वारा दिए गए प्रायश्चित्त को एक बालक की तरह स्वीकार कर आनंद श्रावक को मिच्छामि दुक्कड़म् देनेवाले गौतमस्वामीजी को कोटि कोटि वंदन ।

2) गुरु द्वारा प्रदत्त पारांचित प्रायश्चित्त को वहन करनेवाले **सिद्धसेन दिवाकरसूरिजी** को कोटि कोटि वंदन ।

3) गुरु द्वारा प्रदत्त प्रायश्चित्त के रूप में 1444 ग्रंथों का सर्जन करनेवाले **हरिभद्रसूरिजी म.** को कोटि कोटि वंदन ।

4) क्षमा भाव से केवलज्ञान पानेवाले नूतनदीक्षित शिष्य से माफी मांगनेवाले चंडरुद्राचार्य को कोटि-कोटि वंदन ।

5) अपनी गुरुणी के ठपके के बदले दिल में तीव्र पश्चात्ताप भाव धारण करनेवाली मृगावती साध्वी को कोटि कोटि वंदन ।

2. विनय

इसके चार भेद हैं–

1) ज्ञान विनय :– बहुमान पूर्वक गुरु से ज्ञान ग्रहण करना ।

2) दर्शन विनय :– प्रभु के बताए वचनों पर बहुमान पूर्वक श्रद्धा भाव रखना ।

3) चारित्र विनय :– चारित्र धर्म की सम्यग् आराधना करना एवं विशुद्ध प्ररूपणा करना ।

4) उपचार विनय :– गुरु के आगमन पर खड़े होना, हाथ जोड़ना आदि ।

1) चार ज्ञान के धनी और समग्र द्वादशांगी के रचयिता होने पर भी समवसरण में प्रभु समक्ष एक बालक की तरह प्रभु का विनय करनेवाले लब्धि निधान गौतमस्वामीजी को कोटि कोटि वंदन ।

2) नेमिनाथ प्रभु के 18000 साधुओं को भावपूर्वक वंदन के फलस्वरूप क्षायिक सम्यक्त्व पानेवाले कृष्ण महाराजा को भावपूर्वक सादर वंदन हो ।

3) अपनी भूल का ख्याल आते ही केवली बने अपने भाणेज मुनियों को भावपूर्वक वंदन करनेवाले शीतलाचार्य को भावपूर्वक वंदन ।

3. वैयावच्च

वैयावच्च के पात्र आचार्य, उपाध्याय, स्थविर, तपस्वी, ग्लान, शैक्ष (नूतन दीक्षित) कुल, गण तथा संघ ।

वैयावच्च अप्रतिपाती गुण है । वैयावच्च से अर्जित पुण्य किसी भी प्रकार से नष्ट नहीं होता है ।

1) देव की परीक्षा में भी उत्तीर्ण होनेवाले वैयावच्च के तपस्वी मुनि श्री नंदिषेणमुनि को कोटि कोटि वंदन ।

2) अर्णिकापुत्र आचार्य की गोचरी द्वारा भक्ति कर केवलज्ञान पानेवाली पुष्पचूला साध्वी को कोटि कोटि वंदन ।

3) महावीर प्रभु के कान में से कील बाहर निकालनेवाले व योग्य उपचार करनेवाले सिद्धार्थ श्रेष्ठी व खरक वैद्य को सादर वंदन ।

4) 500-500 मुनियों की गोचरी द्वारा भक्ति करनेवाले बाहु-सुबाहु मुनियों को कोटि-कोटि वंदना ।

5) महावीर प्रभु के रोगनिवारण के लिए सिंह अणगार को औषध का दान देकर भक्ति द्वारा तीर्थंकर नाम कर्म उपार्जित करनेवाली रेवती श्राविका को सादर वंदन हो ।

4. स्वाध्याय

स्वाध्याय को श्रेष्ठ तप कहा है । स्वाध्याय में लीन आत्मा का वैराग्य भाव बढ़ता जाता है ।

गुरु के विनय से ही श्रुतज्ञान की प्राप्ति होती है ।

स्वाध्याय के 5 भेद :–

1) वाचना :– सूत्र के अध्ययन व अध्यापन को वाचना कहते हैं ।

2) पृच्छना :– सूत्र या अर्थ में रहे संदेह निवारण हेतु गुरु को पूछना ।

3) परावर्तन :– पढ़े हुए सूत्र को दृढ़ करने के लिए पुन: पुन: रटना ।

4) अनुप्रेक्षा :– सूत्र और अर्थ पर मन से चिंतन करना ।

5) धर्मकथा :– उपदेश देना अथवा उपदेश श्रवण करना ।

1) पालने में झूलते-झूलते **``अंगों को कंठस्थ करनेवाले वज्रस्वामी को कोटि कोटि वंदन ।''**

2) प्रतिदिन 1000 गाथाएँ कंठस्थ करनेवाले **बप्पभट्टीसूरिजी म.** को कोटि कोटि वंदन ।

3) 70 वर्ष की उम्र में भी योगशास्त्र व वीतराग स्तोत्र के 20 प्रकाश स्वाध्याय करने के बाद ही मुँह में पानी डालनेवाले परमार्हत् कुमारपाल महाराजा को शतश: प्रणाम ।

4) पालकी में बैठकर राजदरबार में जाते हुए भी **`उपदेश माला'** आदि ग्रंथ कंठस्थ करनेवाले पेथड़शाह महामंत्री को सादर प्रणाम ।

5) मंत्री पद पर आरूढ़ होने पर भी निरंतर जिनवाणी-श्रवण एवं संस्कृत में ग्रंथों का सर्जन-आलेखन करनेवाले मंत्रीश्वर वस्तुपाल को सादर वंदन ।

6) बड़ी उम्र में दीक्षा लेकर भी सरस्वती की साधना द्वारा अनेक को वाद में जीतनेवाले **वादिदेवसूरिजी** को कोटि-कोटि वंदन ।

5. ध्यान

किसी एक पदार्थ पर चित्त की एकाग्रता ही ध्यान है ।

चिरकाल से संचित कर्मों का नाश ध्यान द्वारा होता है ।

धर्मध्यान और शुक्लध्यान मोक्ष के श्रेष्ठ उपाय हैं ।

1) अंगुली में से अँगूठी निकल जाने पर धर्मध्यान में से शुक्लध्यान की धारा पर चढ़कर केवली बने **भरत चक्री** को वंदन ।

2) लग्न मंडप में ही पाणिग्रहण की क्रिया करते हुए शुक्लध्यान में चढ़ केवलज्ञान पानेवाले **गुणसागर** को वंदन ।

3) रौद्रध्यान द्वारा 7 वीं नरक भूमि योग्य कर्म उपार्जन बाद शुक्लध्यान द्वारा केवलज्ञान को पानेवाले **प्रसन्न चंद्र राजर्षि** को वंदन ।

4) हाथी की पीठ पर ही शुक्लध्यान की धारा पर चढ़ केवली बननेवाली **मरुदेवी माता** को वंदन ।

6. कायोत्सर्ग

कायोत्सर्ग में काया की ममता का भी त्याग किया जाता है । कायोत्सर्ग के 19 दोष बतलाए हैं—उन दोषों से मुक्त होकर कायोत्सर्ग करना चाहिए ।

देव, मनुष्य और तिर्यंच संबंधी उपसर्गों को भी प्रसन्नतापूर्वक सहन करनेवाले का कायोत्सर्ग शुद्ध होता है ।

1) सीतेन्द्र के अनुकूल उपसर्गों में लेश भी विचलित नहीं होनेवाले **रामचंद्रजी** को वंदना ।

2) एक वर्ष वृक्ष की भाँति कायोत्सर्ग में स्थिर रहे **बाहुबली मुनि** को वंदना ।

3) पूरी रात घोर दिव्य उपसर्गों से भी विचलित नहीं होनेवाले **कामदेव श्रावक** को सादर प्रणाम ।

4) अभया रानी के झूठे आरोप के बाद भी कायोत्सर्ग में स्थिर रहनेवाले **सुदर्शन सेठ** को सादर वंदन ।

5) मस्तक पर धधकते अंगारे होने पर भी कायोत्सर्ग में स्थिर रहकर मोक्ष पद पानेवाले **गजसुकुमाल मुनि** को वंदन ।

दृढ़प्रहारी ने चार-चार जीवों की हत्या करके भयंकर कर्मों का उपार्जन किया था, परंतु तप धर्म के प्रभाव से उसने सभी कठोर कर्मों को दूर कर दिया था ।

हृदय रुपी घट में समता भाव को धारण करके तप धर्म की आराधना करनी चाहिये । जो तप रुपी विकराल तलवार को हाथ में लेकर कर्म-रुपी शत्रुओं से लडता हैं, वह अवश्य विजय श्री प्राप्त करता हैं । लेकिन जो खा-पीकर मोज-मस्ती कर मोक्ष पाने की बातों करते हैं, वे तो मुर्खों के सरदार ही है ।

आश्चर्य की बात है कि तप करना यह प्रवाह के सामने तरने जैसा हैं, फिर भी आत्मा इस भवसागर से पार उतर जाती है ।

अनादि काल से आत्मा कर्म की संगति के कारण आहार की खट पट में पडी हुई है अर्थात् अनादि की आहार संज्ञा को तोडने के लिए तप धर्म का सेवन करना चाहिये ।

आत्मा के साथ जो पुराने कर्म लगे हुए हैं, वे सब तप के सेवन से दूर हो जाते हैं । जिस आत्मा में कर्म का वियोग हो जाता है, वह आत्मा इस संसार में नहीं भटकती है । कर्मों का क्षय करने के लिए तप के समान दूसरा कोई साधन नहीं हैं ।

ध्यान रुपी अभ्यंतर तप द्वारा आत्मा सभी कर्मों को जलाकर भस्मीभूत कर देती हैं, जिसके फलस्वरुप आत्मा शीघ्र ही मुक्ति रुपी कन्या को वरती है ।

तप गुण से विघ्नों का नाश होता है । तप से विकार दूर होते है । धन्ना अणगार ने अपने जीवन में जो विशिष्ट कोटि की तपश्चर्या की थी, उनके इस तप के कारण भगवान महावीर प्रभु ने अपने मुख से उनकी प्रशंसा की थी ।

तपस्या करने से आत्मा जोर से विजय का डंका बजाती है । तप का उद्यापन करने से शासन शोभा में अभिवृद्धि होती है । वीर्योल्लास बढता है और कर्मों की निर्जरा होती है ।

तपश्चर्या करने से अणिमा-लघिमा आदि आठ सिद्धियों की तथा अट्ठाईस प्रकार की लब्धियों की प्राप्ति होती है । तप के प्रभाव से विष्णुकुमार आदि मुनियों को विशिष्ट लब्धि पैदा हुई थी । तप के प्रभाव से विष्णुकुमार आदि की तरह व्यक्ति जगत् में यश प्राप्त करता है ।

तप के प्रभाव से ही प्राप्त हुई लब्धि के बल से गौतम स्वामी

अष्टापद पर्वत पर चढ सके थे और उन्होंने अक्षीण महानसी लब्धि द्वारा थोडी सी खीर होने पर भी 1500 तापसों को खीर से पारणा कराया था ।

क्षमा धर्म के साथ जो मुनि तप करता है, वह अपने निकाचित कर्मों को भी जलाकर साफ कर देता है ।

दीक्षा अंगीकार करने के बाद महावीर प्रभु ने 12.5 वर्ष तक अखंड तप किया था । उस तप दरम्यान भगवान भूमि पर बैठे भी नहीं थे । घोर तप द्वारा प्रभु ने केवलज्ञान प्राप्त किया था ।

स्वाद-विजय का श्रेष्ठतम उपाय

आयंबिल तप

मनुष्य को प्राप्त इन्द्रियों में आंख, कान और नाक दो-दो हैं, जब कि उनके द्वारा देखने, सुनने और सुंघने की एक ही प्रवृत्ति होती हैं, जब कि मनुष्य को जीभ एक ही मिली है और उसके द्वारा वह दो काम करता है–खाना और बोलना ।

जीभ सबसे कोमल है, फिर भी सबसे अधिक कठोर बन सकती है । आग की चिनगारी से जो भयंकर नुकसान नहीं होता है, वह नुकसान निरंकुश जीभ से हो जाता है । आज देश में घर-घर में जो महाभारत के युद्ध खेले जा रहे है, उसका मुख्य कारण जीभ ही है । कहा भी है–

The tongue is three inches long yet it can kill a man six feet high.

जीभ मात्र तीन इंच लंबी हैं, किंतु वह छह फूट के मानवी को खत्म कर सकती है ।

कबीर कायाकुतरी, करत भजन में भंग ।
उनको टूकडा डाल के, करो भजन निशंक ।।

A wound from a tongue is worse than a wound from a sword, for the latter effects only the body the former the spirit.

जीभ का घाव तलवार के घाव से भी अधिक भयंकर है । तलवार का घाव समय जाते भर जाता है किंतु वाणी का घाव जीवन पर्यंत भरता नहीं है ।

इस जीभ में अमृत हैं और जहर भी । यदि जीभ के ऊपर पूर्ण अंकुश हो तो यही जीभ वरदान सिद्ध हो जाती हैं और जीभ पर अंकुश न हो तो वही जीभ श्राप बन जाती है ।

वाणी के क्षेत्र में निरंकुश जीभ जिस प्रकार सामाजिक जीवन में भयंकर आंधी ला सकती है, उसी प्रकार स्वाद के क्षेत्र में भी यदि इस जीभ के ऊपर विवेक का अंकुश न हो तो यह जीभ शरीर के स्वास्थ्य में आग पैदा कर सकती है ।

संयम की साधना के लिए इन्द्रिय दमन अनिवार्य है और उस इन्द्रिय दमन में सबसे अधिक भार रसना जय पर रखा गया है क्योंकि अन्य इन्द्रियों की पुष्टता भी रसनेन्द्रिय को ही आभारी है ।

मुहपती के पडिलेहन मे भी **'रस गारव, ऋद्धि गारव और शाता गारव के अन्तर्गत रस गारव के त्याग के ऊपर सबसे अधिक भार देते हुए सर्व प्रथम उसका निर्देश किया गया है ।'**

जीभ में कोई हड्डी नहीं है, फिर भी वह कई बार बोलने व खाने में भान भूल जाय तो भयंकर अनर्थों को जन्म दे देती है ।

रसनेन्द्रिय जय का सर्वश्रेष्ठ उपाय है **आयंबिल** तप ।

आयंबिल में हर प्रकार के स्वाद का त्याग होता है । आयंबिल में भोजन के सभी रसों का त्याग होता है । दूध, दही, घी, तैल, गुड और तले हुए मिष्टान्न आदि सभी विगइयों का, समस्त प्रकार के फलों का, सभी प्रकार के सूके मेवों Dry Fruits का तथा सभी प्रकार की हरी वनस्पति का आयंबिल में त्याग होता है ।

आयंबिल में रस युक्त भोजन का त्याग ही नहीं है किंतु निरस भोजन का सेवन भी है और इसी कारण एक अपेक्षा से उपवास के बजाय आयंबिल करना कठिन गिना गया है । उपवास में सभी प्रकार के आहार का त्याग है, जब कि आयंबिल में स्वादयुक्त भोजन का त्याग और रसहीन भोजन का सेवन भी है अतः दोनों ओर से रसनेन्द्रिय के ऊपर प्रहार होता है ।

उपवास का सेवन निरंतर नहीं किया जा सकता है, जबकि आयंबिल तप का आचरण जीवन पर्यंत किया जा सकता है । एक साथ में सैंकडों आयंबिल करने वाले तपस्वी इस काल में भी मौजुद है ।

आयंबिल में चौबीस घंटों में एकबार भोजन लिया जाता है । आयंबिल का भोजन भी सात्त्विक होता है । शरीर के अस्तित्व को बनाए रखने के लिए आवश्यक शक्तिदायक तत्त्व आयंबिल के भोजन से प्राप्त हो सकते है और इस कारण आयंबिल का तपस्वी दीर्घकाल तक इस तप का आचरण करते हुए भी अपने जीवन में स्फूर्ति आदि का अनुभव कर सकता है ।

ठीक ही कहा हैं– **'रसा रोगस्य कारणम्'** रस ही रोग का कारण है । अत्यंत मधुर मीठे मिष्टान्न, मसालेदार भजीए, दहीवडे, खमण तथा अन्य नमकीन, पाउभाजी, हॉटेल का भोजन, बासी भोजन आदि आदि के घोर व्यसनों के कारण अनेको के देह में अजीर्ण, बुखार, गेस, ब्लडप्रेशर, हॉर्टएटेक, मंदाग्नि, सिरदर्द, कब्ज, अपचा, केंसर तथा एडस् आदि के भयंकर रोग पैदा हो गए हैं ।

भर्तृहरि की वे पंक्तियाँ याद आ जाती है–

'भोगे रोगभयम्' रसना के भोग में रोग का भय सतत रहा हुआ है ।

आयंबिल के तप में तप के उद्देश्य 'इच्छा निरोध' की सिद्धि रही हुई है । आयंबिल के तप द्वारा रसनेन्द्रिय की इच्छाओं के ऊपर अंकुश पाया जाता है ।

आयंबिल में सभी प्रकार के बाह्य तपों की आराधना रही हुई है ।

1) आयंबिल में एक ही बार भोजन होने से शेष काल में अनशन तप की आराधना होती है ।

2) आयंबिल में रसहीन भोजन होने से ऊणोदरी का आचरण स्वतः हो जाता है ।

3) आयंबिल में छह विगई का त्याग होने से रसत्याग की आराधना रही हुई है ।

4) आयंबिल में सीमित वस्तुए होने से वृत्तिसंक्षेप तप की भी आराधना हो जाती है ।

5) आयंबिल तप के साथ अन्य धर्मक्रियाओं का भी आचरण होने से कायक्लेश तप की आराधना रही हुई है ।

6) आयंबिल में शुभ धार्मिक प्रवृत्ति होने से संलीनता तप की भी आराधना रही हुई है ।

आयंबिल का आहार पांचों इन्द्रियों को वश करने में समर्थ है । विगइयों का सेवन देह में विकार पैदा करता है आयंबिल में विगइयों का सर्वथा त्याग होने से वह भोजन अविकारक होता है । कभी भूल से ज्यादा भी खाने में आ जाय तो वह भोजन रोगादि को पैदा नहीं करता है अर्थात् आयंबिल का भोजन स्वास्थ्य वर्धक और रोग प्रतिरोधक है ।

आयंबिल में अणाहारी पद की आराधना रही हुई है-संसार में परिभ्रमण करती हुई आत्मा विग्रहगति में अधिक से अधिक दो-तीन समय ही अणाहारी रहती है । आत्मा का मूलभूत स्वभाव आहारी नहीं किंतु अणाहारी है । उस अणाहारी पद की प्राप्ति के लिए ही तारक तीर्थंकर परमात्माओं ने तप धर्म बतलाया है । आयंबिल द्वारा तप धर्म का आचरण होने से अणाहारी पद की भी सिद्धि प्राप्त होती है ।

जैसा आहार होता है, वैसे विचार पैदा होते है । आयंबिल में सात्त्विक आहार होने से सात्त्विक विचार पैदा होते है ।

आयुर्वेद में भोजन के तीन प्रकार बतलाए हैं 1) सात्त्विक 2) राजसी और 3) तामसी ।

1) सात्त्विक आहार :– शुद्ध, प्राकृतिक, अहिंसक व अन्नाहार का समावेश सात्त्विक आहार में होता है ।

2) राजसी आहार :– विगइयों व स्वाद युक्त, गरिष्ट, रसप्रद भोजन का समावेश राजसी आहार में होता है ।

3) तामसी आहार :– हिंसक व मादक भोजन का समावेश तामसी आहार में होता है ।

आयंबिल में राजसी व तामसी खुराक का सर्वथा त्याग और केवल सात्त्विक आहार का ही सेवन होने से किसी भी प्रकार की विकृति पैदा नहीं होती है और शुद्ध विचारों को उत्पन्न करने में सहायक बनता है ।

भोजन में जितनी अधिक स्निग्धता होती है उतनी ही अधिक आसक्ति बढती है, जिसके फलस्वरुप चिकने कर्मों का बंध होता है, जबकि आयंबिल में रुक्ष भोजन होने से आसक्ति के अभाव से चिकने कर्मों का बंध नहीं होता है ।

आयंबिल के तप से जीवन में सहनशीलता आती है, परिणाम स्वरुप दु:ख को सहने की शक्ति पैदा होती है ।

कर्म तपे तप योगथी, तपथी जाय विकार ।

भाव मंगल तप जिन कहे, शिव सुखनो दातार ।।

जिनेश्वर परमात्मा प्ररुपित तप-धर्म, कर्म रुपी काष्ठ को भस्मीभूत करने में अग्नि समान है । लाखों मण काष्ठ के ढेर को भस्मीभूत करने में अग्नि का एक कण समर्थ है । अनादिकाल की वासनाओं से उपार्जित कर्मों को नष्ट करने में तप पूर्णतया समर्थ है । अनादिकाल से आत्मा आहार, भय, परिग्रह और मैथुन संज्ञाओं के पराधीन बनी हुई हैं । उन संज्ञाओं पर विजय प्राप्त करने के लिए क्रमश: तप-भाव-दान व शील धर्म का पालन अनिवार्य है । तप से आहार संज्ञा, भाव से भय, दान से परिग्रह तथा शील से मैथुन संज्ञा को जीता जा सकता है । चारों संज्ञाओं में आहार संज्ञा अति बलवान् है । प्रत्येक संसारी जीव विग्रह गति के सिवाय प्रत्येक समय आहार ग्रहण करती है । आहार यह आत्मा की विभाव दशा है, स्वभाव दशा नहीं । आत्मा का शुद्ध स्वभाव तो अणाहारी है ।

उस अणाहारी पद की प्राप्ति के लिए तप धर्म का सेवन अनिवार्य है । तप के बाह्य व अभ्यंतर दो भेद है । बाह्य तप का सेवन भी अभ्यंतर तप की प्रकर्षता पाने के लिए है । बाह्य तप अनशनादि छह प्रकार का है । बाह्य तप का सेवन इन्द्रियों को संयमित बनाने के लिए है । इन्द्रियां यदि अंकुश में हो तो आत्मसाधना संभव है ।

इन्द्रियों में भी रसनेन्द्रिय अति चंचल है । उस पर विजय पाने के लिए सर्वश्रेष्ठ उपाय है–आयंबिल तप । विगइयों के आहार से इन्द्रियों पर संयम पाना कठिन है । आयंबिल तप एक ऐसा तप है कि

जिसमें सर्व विगइयों का त्याग होता है और साथ ही में इसका सेवन दीर्घकाल तक किया जा सकता है ।

प्राण धारण करने के लिए उपयोगी आहार आयंबिल में मिल जाने से इस तप का जीवन पर्यंत सेवन किया जा सकता है ।

आयंबिल तप का सेवन भी अनेक प्रकार के अनुष्ठानों में किया जाता है जैसे नवपद ओली की आराधना, निरन्तर अथवा एकान्तर पांच सौ आयंबिल तप की आराधना, वर्धमान तप की आराधना इत्यादि ।

प्रारम्भ में आयंबिल करने में कुछ कठिनाई आ सकती है परंतु धैर्यता के साथ निरंतर अभ्यास किया जाय तो आयंबिल तप बहुत ही सरल बन जाता है । वर्तमान में भी ऐसे अनेक व्यक्ति देखने को मिलते है जिनको प्रारम्भ में आयंबिल करने में तकलीफ रहती थी परन्तु उन्ही व्यक्तियों ने अपनी धैर्यता से आयंबिल चालू रखकर सौ-सौ ओली तक पूर्ण की है ।

आयंबिल तप बाह्य व अभ्यंतर दोनों दृष्टि से लाभकारी है । आयंबिल का भोजन पचने में हल्का होने से आरोग्य को भी लाभ करता है और साथ ही साथ आत्मा के कर्म मैल को भी साफ करता है ।

छट्ठ के पारणे उत्कृष्ट आयंबिल तप करने वाले कांकदी धन्ना अणगार के तप की प्रशंसा महावीर प्रभु ने स्वमुख से की थी ।

निरन्तर अथवा एकांतर पांच सौ आयंबिल तप के सेवन से आत्मा का भाव आरोग्य प्रकट होता है । आयंबिल के साथ साथ अभ्यंतर तप की साधना से आत्मा धीरे धीरे कर्म मल से मुक्त बनती जाती है । आयंबिल तप के विशेष लाभों की प्राप्ति तभी होती है जब इस तप का दीर्घकाल तक सेवन किया जाय । इस दृष्टि से आयंबिल तप के विशेष लाभों की प्राप्ति निरन्तर पांच सौ आयंबिल करने से हो सकती है ।

पूर्वकाल में अनेक महर्षियों ने अपने जीवन में पांच सौ आयंबिल तप की आराधना की है ।

अहिंसा व संयम के पालन के साथ साथ जीवन में आयंबिल तप का भी सुमेल हो जाय तो आत्मा अवश्य अल्प भवों में कर्म मल से रहित बन, शाश्वत शिव सुख का भोक्ता बन सकती है ।

भीष्म तपस्वी धन्ना अणगार

चरम तीर्थपति भगवान महावीर परमात्मा का राजगृही नगरी में आगमन हुआ ।

मगध सम्राट् श्रेणिक बड़े उत्साह व उमंग के साथ, प्रभु को वंदनार्थ आए । प्रभु ने वैराग्यपूर्ण धर्मदेशना दी ।

धर्मदेशना के अंत में श्रेणिक महाराजा ने पूछा, `प्रभो ! आपके 14000 शिष्यों में वर्धमान (चढ़ते) परिणाम वाले महात्मा कौन है ?

प्रभु ने कहा, **`काकंदी के धन्ना अणगार ।'**

नाम सुनकर श्रेणिक महाराजा को आश्चर्य हुआ ।

बत्तीस करोड़ सोना मोहर और देवांगनाओं जैसी रूपवती स्त्रियों का त्यागकर जिन्होंने कुछ ही महिनों पूर्व प्रभु महावीर के पास दीक्षा स्वीकार की थी ।

दीक्षा स्वीकार करने के बाद धन्ना अणगार ने प्रभु से प्रार्थना की, **`प्रभो ! मैं जीवन पर्यंत छट्ठ तप के पारणे छट्ठ और पारणे में आयंबिल करने का अभिग्रह करता हूँ ।'**

उनके दृढ़ मनोबल को देखकर प्रभु ने उन्हें वैसा करने की अनुमति प्रदान की ।

आठ मास के अंदर तो उन्होंने अपनी काया को एकदम कृश बना दी थी । कृशकाय होते हुए भी मुनिवर की शुभध्यान धारा कभी खंडित नहीं हुई, वे निर्मल अध्यवसायों की धारा में क्रमशः आगे बढ़ते ही गए ।

आठ मास की अल्पावधि में उन्होंने अपूर्व तपश्चर्या कर दी, जिसके फलस्वरूप वे अत्यंत समाधि पूर्वक कालधर्म प्राप्त कर अनुत्तर विमान में देव बने ।

रसना जय के महान् साधक :–

संवत् 811 चैत्र कृष्णा अष्टमी का पवित्र दिन । आचार्य सिद्धसेनसूरिजी म. ने जिनशासन के अजोड़ प्रभावक आमराजा प्रतिबोधक

बप्पभट्टी मुनि को आचार्य पद प्रदान करने का निर्णय किया। पद प्रदान करने की मंगलमय क्रिया चल रही थी और अचानक आचार्य भगवंत के मुख पर उदासीनता छा गई। चकोर बप्पभट्टी मुनि ने आचार्य भगवंत की उदासीनता को भांप लिया। तुरंत ही वे गुरुदेव के पास आए और बोले, **'गुरुदेव ! आनंद के स्थान पर आपके चेहरे पर शोक की रेखा क्यों ?'**

भट्टी ! पद प्रदान करते समय अचानक मैं तेरे भविष्य के विचार में डूब गया। एक ओर तेरी छोटी वय और दूसरी ओर राजकीय सम्मान। वे दोनों चीजें संयम के लिए खतरनाक है, अतः मुझे तेरी चिंता सत्ता रही है।

'भगवंत ! गुरुदेव ! यही बात है न ! तो आज से ही मैं प्रतिज्ञा करता हूँ कि मैं भक्त के घर से गोचरी नहीं लूंगा और जीवन–पर्यंत छह विगई का त्याग करूंगा ?'

गुरुदेव का चेहरा प्रसन्नता से झूम उठा–उनके मुख पर से उदासीनता गायब हो गई। गुरुदेव ने उन्हें अंतर से आशीर्वाद प्रदान किए, **'तूं महान् ब्रह्मचारी और शासन-प्रभावक बनेगा।'**

सचमूच ही गुरुदेव के शुभ आशीर्वाद के प्रभाव से बप्पभट्टीसूरिजी म. जैन शासन के अजोड़ प्रभावक और महान् ब्रह्मचारी हुए।

कैसा उनका अपूर्वत्याग ! कैसी उनकी संयम रक्षा की जागृति ! धन्य हो सूरिवर ! धन्य हो।

6 संयमी बनें

संयम अर्थात् अष्ट प्रवचनमाता ।

एक पुण्यशाली आत्मा जब भागवती दीक्षा स्वीकार करती है । तब गुरु भगवंत उसके चारित्र अर्थात् संयम की सुरक्षा के लिए अष्ट प्रवचनमाता प्रदान करती है ।

इन अष्ट प्रवचन माताओं के पालन में संयम की सुरक्षा रही हुई है और अष्ट प्रवचनमाता के भंग में संयम को नुकसान रहा है ।

जिस प्रकार नवजात बालक की सुरक्षा माँ की गोद में रही हुई है ।

एक बालक को एक ओर डनलप की गद्दी मिलती हो और दूसरी ओर माँ की गोद मिलती हो तो बालक डनलप की गद्दी छोडकर माँ की गोद ही पसंद करता है, क्योंकि माँ की गोद में जो सुरक्षा, निर्भयता और निश्चिंतता है, वह अन्यत्र कही भी नहीं है ।

बस, इसी प्रकार संयमी साधु की भी सुरक्षा अष्ट प्रवचन माताओं की गोद में रही हुई है । साधु प्रवचन माता की गोद को छोडकर अन्यत्र जाता हैं, त्योंहि उसका संयम असुरक्षित हो जाता है ।

अष्ट प्रवचन माताओं की उपेक्षा करनेवाला साधु शिथिल कहलाता है ।

अष्ट प्रवचन माताओं में सबसे पहली माता है–**ईर्या समिति !**

इस समिति के पालन से एक ओर जीव रक्षा का लाभ प्राप्त होता है, जिसके फलस्वरुप दीर्घ आयुष्य, निरोगी काया आदि के पारलौकिक लाभ के साथ भविष्य में शाश्वत जीवन भी प्राप्त होता है ।

जिस मार्ग पर निरंतर लोगों का आवागमन होता हो, वह मार्ग प्राय: अचित्त बन जाता है ऐसी निर्जीव भूमि पर सूर्य के प्रकाश में नीची नजर करते हुए जीव-रक्षा के परिणाम के साथ गमन करना, उसे ईर्या समिति कहते है ।

जीव रक्षा के परिणाम के साथ देखकर चलते समय अनुपयोग से जीव हिंसा हो जाय तो भी उसे जीव हिंसा का पाप नहीं लगता है ।

जीव रक्षा का परिणाम नहीं हो और चलते समय जीव विराधना नहीं भी हो तो भी अशुभ कर्म का अवश्य बंध होता है ।

प्रकृति का नियम है– `जो दूसरों को जीवन देता है उसे जीवन मिलता है और जो दूसरों को मौत के घाट उतारता है, उसे भविष्य में अनेक बार बेमौत मरना पडता है ।

साधु की दूसरी माता है **भाषा समिति !** जो साधु समझपूर्वक हितकारी, मित और निरवद्य वचन बोलता है, उसे वचन लब्धि प्राप्त होती है ।

उसके शब्दों का भी वजन पडता है ।

भाषा समिति के पालन से जीवदया का भी पालन होता है ।

बोलते समय मुहपत्ति का उपयोग भी जरुरी है । मुहपत्ति बिना बोलने से त्रस व स्थावर जीवों की विराधना की संभावना रहती है ।

–साधु की तीसरी माता हैं-**एषणा समिति !**

साधु को भी अपने जीवन यापन के लिए आहार की अपेक्षा रहती है । साधु को आहार पकाने का निषेध हैं, अत: वे अपने जीवन निर्वाह के लिए निर्दोष भिक्षाचार्य का आलंबन लेते है । गौचरी संबंधी 42 दोषों को टालकर भिक्षा ग्रहण करना, उसी का नाम एषणा समिति है ।

(1) साधु की चौथी माता है, आदान भंड मत्त निक्षेपणा समिति ।

साधु की पांचवी माता हैं-पारिष्ठापनिका समिति !

(2) तीन गुप्तियाँ

1. मनोगुप्ति : मन की अशुभ प्रवृत्ति का निरोध करना और शुभ में प्रवृत्ति करना मनोगुप्ति है । समिति में सम्यग् आचरण की मुख्यता है और गुप्ति में अप्रशस्त के निरोध की मुख्यता है ।

मनोगुप्ति के तीन प्रकार हैं –

(अ) अकुशल निवृत्ति : आर्त्त और रौद्रध्यान के विचारों का त्याग करना `अकुशल निवृत्ति' मनोगुप्ति है ।

(ब) कुशल प्रवृत्ति : धर्मध्यान और शुक्लध्यान में मन का प्रवर्तन करना कुशल प्रवृत्ति मनोगुप्ति है ।

(स) योगनिरोध : मन की कुशल अकुशल सर्वप्रवृत्ति का निरोध करना योगनिरोध मनोगुप्ति है, जो चौदहवें गुणस्थानक में होती है ।

2. वचन गुप्ति : सावद्य वचन का त्याग कर, अनिवार्य परिस्थिति में हितकारी व निरवद्य वचन बोलना इसे वचनगुप्ति कहते हैं ।

इसके भी दो प्रकार हैं–

(अ) मौनावलंबिनी वचनगुप्ति : शिरकम्पन, हस्तचालन तथा संकेत आदि का त्याग करना मौनावलंबिनी वचनगुप्ति है ।

(स) वाग्नियमिनी वचनगुप्ति : वाचना आदि के विशेष प्रसंग पर यतनापूर्वक बोलना वाग्नियमिनी वचनगुप्ति है ।

3. कायगुप्ति : काया द्वारा अशुभ प्रवृत्ति का त्याग और शुभ में प्रवृत्ति कायगुप्ति है ।

इसके दो भेद हैं-

(अ) चेष्टानिवृत्ति रूप कायगुप्ति : उपसर्ग आदि के प्रसंग में भी काया को चलित न करना, चेष्टानिवृत्ति रूप कायगुप्ति कहलाती है ।

(ब) सूत्रचेष्टानियमिनी कायगुप्ति : शास्त्र में विहित मार्गानुसार गमनागमन आदि की प्रवृत्ति करना ।

चारित्र इच्छुक मुमुक्षु को हित शिक्षा

आज अरिहंत परमात्मा की आज्ञा को जानकर, उसे अच्छी तरह से समझकर उसे अपनाने के लिए तू तैयार हुआ हूँ !

मैं तुम्हें एक नहीं, आठ-आठ माँ की गोद में खेलने के लिए छोड रहा हूँ ।

जन्मदात्री माँ और इन आठ माँ में कुछ भेद है ।

इस एक माँ ने तेरा लालन-पालन और पोषण किया है । परंतु, इन आठ माँ का पालन तुझे करना है ।

तेरी पहली माँ है ईर्या समिति–

वत्स ! कही भी जल्दबाजी करते हुए इस माँ को दु:खी मत करना । जीवन के सारे व्यवहार में चलना आवश्यक है । चले बिना कोई भी कार्य नहीं होता है, अत: चलते समय इस शास्त्र आज्ञा को भूलना मत–

'पूरओ जुगमयाए पेहमाणो महीं चरे'

अर्थात्–जब भी तुं चले, साढे तीन हाथ प्रमाण भूमि को देखकर चलना ।

जिससे तेरे पैर के नीचे कोई भी जीव जंतु की हिंसा न हो ।

कोई भी जीव तेरे पैर के नीचे दबे नहीं, कुचले नहीं ।

तेरी भूल से तेरे पैर के नीचे, एक भी जीव पीड़ित होगा तो तेरी ईर्या समिति माँ को बडी पीडा होगी,

''जयं चरे जयं चिट्ठे, जय मासे जयं सये ।
जयं भुंजंतो भासंतो, पावं कम्मं न बंधइ''

इस सूत्र को हमेशा याद रखना ।

तेरी दूसरी माँ है भाषा समिति–

तेरे होठ खुले और किसी का हृदय प्रसन्न हो जाय, ऐसे ही शब्द बोलना ।

साधु का एक विशेषण–**''अपरुषवाई''** हमेशा हृदय में रखना ।

तेरे शब्द मरहम बने, न कि जख्म, इस बात का ध्यान रखना ।

कोमल हृदयी मुनि कठोर शब्द कैसे बोल सकता है ?

किसी के दिल में दर्द हो ऐसे वचन कभी मत बोलना । नहीं तो...तेरी भाषा समिति माँ को दर्द होगा ।

इसीलिए **'अणुचिंतिय वियागरे'**

'सोच-समझकर बोलना' यह सूत्र तेरा मंगलसूत्र बने और तेरी प्रव्रज्या अखंड सौभाग्यवती बने ।

तेरी तीसरी माँ है 'एषणा समिति'–

आहार तेरे जीवन के लिए अनिवार्य है, परंतु श्रमण भिक्षा ले...तो...

जहाँ से ले, अथवा जिसके पास से ले उसे कम न पडे, उसकी भावधारा टूटे नहीं,

उसे दूसरी बार बनाना न पडे, यह सोचकर लेना ।

लक्ष्य में रखना–**'महुगारसमा बुद्धा'** इस पंक्ति को हमेशा स्मृति पथ में रखना ।

भ्रमर की तरह भिक्षा लेना, जिससे रस भी कम न हो और फूल को भी दर्द न हो ।

मनकमुनि की तरह **``अहो ! जिणेहिं असावज्जा वित्ति साहुण देसिआ''**

तु रसना का गुलाम मत बनना !

अन्यथा तेरी तीसरी माता एषणा समिति नाराज होगी ।

``न रसट्ठाए भुंजिज्जा जवणट्ठाए महामुणि'' यह पद तेरा संपद बने ।

तेरी चौथी माँ है आदान-भंड-मत्त-निक्खेवणा समिति–

शरीर है तो सारा संसार है । तुं संसार में है, इसलिए सामग्री के बिना नहीं चलेगा ।

परंतु तेरी सामग्री का संग्रह किसी जीव के प्राणों का संहरण न करे इस बात का ध्यान रखना ।

`रयहरण गुच्छ पडिग्गह धारा' श्रमण को भी वस्त्र-पात्र आदि उपकरण रखने पडते है ।

परंतु इन्हें देते हुए, लेते हुए या रखते समय इतना ध्यान रखना कि कोई प्राणी अपने प्राण खो न बैठे ।

``पडिलेहिय पडिलेहिय, पमज्जिय पमज्जिय'' इस पंक्ति को हमेशा तेरी नजर के सामने रखना ।

नहीं तो तेरे संयम को प्रमाद दोष की नजर लग जाएगी,

जिससे तेरी आदान-भंड-मत्त-निक्खेवणा समिति का शोषण होगा,

प्रमार्जन कर और प्रमाद का त्याग करके वस्तु का उपयोग करना ।

तेरी पांचवीं माँ है पारिष्ठापिका समिति–

शरीर है तो शरीर की दुनिया भी है ।

तुझे भात–पानी का आहार शरीर को देना होगा और

यह तो नियम है कि जिसे देते है उससे लेना भी पडेगा ।

तूने शरीर को दिये आहार-पानी कुछ घंटों बाद रुपांतरित होंगे ।

उन्हें तुझे छोडना पडेगा । परंतु उन्हें छोडते समय किसी वनस्पतिकाय के जीवों को त्रास न हो,

निगोद के अनंत जीवों का नाश न हो और किसी छोटे-बडे जीव जंतुओं का विनाश न हो ।

जिस जगह पर तूं इनका त्याग करे, वहाँ पर सुक्ष्म दृष्टि से निरीक्षण करना ।

यदि थोडा भी ध्यान चुक गया तो तेरी पारिष्ठापनिका समिति माँ का ह्रदय दु:खी बनेगा ।

तेरी छठी माँ है-मन गुप्ति—

यह मन अजब-गजब का है—

इसका जो सेवक बनता है उसे वह सातवीं नरक में पहुँचाता है और इसका जो स्वामी बनता है उसे वह सिद्धशिला पर पहुँचाता है ।

श्री प्रसन्नचन्द्र राजर्षि की कथा हमें बताती है और स्पष्ट करती है मन की लीला ।

आर्तध्यान और रौद्रध्यान इसी मन के तुफान है ।

तु सावधान रहना और अपनी संयम की नाव को संभालना ।

तेरे मन का रथ संयम के पथ से नीचे न उतर जाए, यही मेरा मनोरथ है ।

इसीलिए तू अपने मन को प्रभु वचन के मनन में स्थिर रखना ।

यदि तेरा मन कहीं उल्टे रास्ते पर चला गया तो तेरी मनोगुप्ति माता का दहन शुरु हो जाएगा ।

मन: एव मनुष्याणां कारणं बंध मोक्षयो: ।।

* * * * *

तेरी सातवी माँ का नाम है-वचन गुप्ति—

मुनि की व्याख्या है-**''मौनेन मुनि''** जो मौन को धारण करे वह मुनि ।

परंतु वह मौन, शब्द का ही नहीं है, ईशारों का भी है ।

इस माँ का जो अच्छी तरह से पालन करे, वही सच्चा संत है ।

हाथ अंगुली और आँख आदि सभी ईशारों को प्रभु की आज्ञा में समा देना, यही वचन गुप्ति है ।

वैसे ही सावद्य और निरवद्य के विवेक को जानकर मुनि जो भी बोलते है, वह भी वचन गुप्ति है ।

ईशारा बंद, होठ बंद और जब भी बोलना पडे, वचन की मर्यादापूर्वक ही बोला जाय, वह भी वचन गुप्ति है ।

इस वचन गुप्ति माता का निश्चय और व्यवहार के समन्वय का ध्यान रखना ।

यह ध्यान तुझे सारी झंझट से मुक्त करके मुक्ति की ओर ले जाएगा ।

तेरी आठवीं माँ है–काय गुप्ति,

जहाँ शरीर नहीं है, वहाँ संसार भी नहीं है । जहाँ काया नहीं है, वहाँ कर्म भी नहीं है ।

देह से मुक्त बनने की साधना ही संयम है–चारित्र है ।

काया की माया तुझे कहीं खींच न ले, इसका ध्यान कायगुप्ति माता रखेगी,

परंतु इस माता का ध्यान तुझे ही रखना होगा ।

काया का स्पंदन, काया का हलन-चलन आदि सतत रहेगा, परंतु शरीर का प्रत्येक स्पंदन, चेतना का संवेदन लेकर हो, इतना ही सिर्फ निवेदन है तुझे !

शरीर पर आनेवाले परीषह, कर्मों का बंधन नहीं परंतु आनंद वेदन करानेवाला बनाना ।

देह में आत्मबुद्धि करना मिथ्यात्व है । कायगुप्ति ही सम्यक्त्व है ।

परीषह और उपसर्ग में तू ढीला मत पडना, नहीं तो तेरी कायगुप्ति माता दुबली हो जाएगी । काया का कस निकालना । यह याद रखना, यतनापूर्वक जो जीए वही यति है ।

संलीनता आदि सद्‌गुणों को सदा धारण करना, याद रखना **''देह दुःखं महाफलं''** इस छोटी लाइन को Helpline बनाकर सिद्धों के Divine देश में पहुँचना ।

साधु की आठ माताएँ

दीक्षा अंगीकार करते साधु अपनी जन्मदात्री माता का परित्याग

करता हैं परन्तु उसके साथ ही वह आठ प्रकार की माताओं की शरण स्वीकार करता है ।

नवजात शिशु का रक्षण जैसे माँ की गोद में ही रहा हुआ है । बालक अन्य सबकी उपेक्षा कर सकता हैं किंतु माँ की उपेक्षा नहीं कर सकता । बालक का रक्षण माँ की गोद में ही रहा हुआ है । उसी प्रकार दीक्षा अंगीकार करना भी साधु का नया जन्म है । उस नए जन्म के साथ ही साधु अपने पूर्व के नाते-रिश्ते-पुत्र परिवार धन-सम्पत्ति, नाम, गांव आदि सब का त्याग कर देता है ।

नवजात साधु दीक्षा अंगीकार करने के साथ ही आठ प्रवचन माताओं का स्वीकार करता है । साधु का रक्षण प्रवचन माताओं की गोद में ही रहा हुआ है । जो साधु जीवन पर्यंत इन अष्ट प्रवचन माताओं का त्याग नहीं करता है, उन्हें वे माताएँ सर्वोच्च पद प्रदान करती है । जानते हो-इन अष्ट प्रवचन माताओं को ?

पहली माता है: ईर्या समिति– वह सिखाती है कि तुम यतना पूर्वक चलो । तुम्हारे पैर के नीचे कोई जीव जंतु न आ जाय उसकी पूरी सावधानी रखो ।

दूसरी माता है: भाषा समिति– वह सिखाती है कि तुम यतना पूर्वक बोलो । क्रोध, लोभ, भय व हास्य से असत्य वचन का उच्चारण न हो जाय, उसकी पूरी-पूरी सावधानी रखों ।

तीसरी माता है: ऐषणा समिति– वह सिखाती है, देह धारण करने के लिए आहार ग्रहण करना पड़े तो निर्दोष आहार ग्रहण करना । आहार ग्रहण करते समय बयालीस दोषों में से कोई दोष तेरे आहार को दूषित न कर दे उसकी पूरी-पूरी सावधानी रखना ।

चौथी माता है: आदान भंड मत्त निक्षेपणा समिति–यह माता सिखाती है कि यदि तुझे कोई वस्तु कहीं रखनी हो तो पहले प्रमार्जन करके फिर रखना । वस्तु को लेते-रखते, किसी छोटे-मोटे जीव की विराधना न हो जाय उसकी पूरी-पूरी सावधानी रखना ।

पांचवीं माता है: पारिष्ठापनिका समिति– यह माता सिखाती

है-मल-मूत्र आदि का त्याग करना हो तो निर्जीव भूमि पर करना ताकि अन्य जीवों की विराधना न हो ।

छट्ठी माता है: मनो गुप्ति–यह माता सिखाती है कि मन में कभी अशुभ चिंतन मत करना। अपने मन को सदैव शुभ भावनाओं से ओतप्रोत बनाए रखना ।

सातवीं माता है: वचन गुप्ति–यह माता सिखाती है कि तुम मौन रहने का अभ्यास करना और बोलना ही पड़े तो विवेक पूर्वक बोलना ।

आठवीं माता है: काय गुप्ति–यह माता सिखाती है कि अपनी काया को सदैव वश में रखना। अशुभ प्रवृत्ति का सदैव त्याग करना । यदि कायिक प्रवृत्ति करनी पड़े तो विवेक पूर्वक करना ।

इंद्रिय-संयम

मानव भव में भी मोक्षमार्ग की आराधना-साधना के लिए पाँच इन्द्रियाँ व्यवस्थित चाहिए । इन्द्रियों की हानि है तो संयम का पालन अच्छी तरह नहीं हो सकेगा ।

जो कान से बहरा है, वह जिनवाणी का श्रवण कैसे कर पाएगा ?

जो आँख से अंधा है, वह जीवदया का पालन कैसे कर सकेगा ?

जो जीभ से मूक है वह प्रभु की स्तुति कैसे कर पाएगा ?

जो लूला-लंगड़ा है वह दान, तीर्थ यात्रा आदि धर्मों की आराधना कैसे कर पाएगा ?

तात्पर्य यह है कि मोक्षमार्ग की साधना के लिए पाँचों इन्द्रियाँ परिपूर्ण होनी अत्यावश्यक है ।

परंतु पांच इन्द्रियाँ मिल जायें, इतने मात्र से ही मोक्ष नहीं मिल जाता है ।

तलवार मिल गई, इतने मात्र से ही व्यक्ति सुरक्षित नहीं हो

जाता है, तलवार मिलने के साथ उसे बराबर चलाना भी आना चाहिए अन्यथा वही तलवार उसके लिए मौत का कारण बन जाएगी ।

धन मिलने से भी व्यक्ति सुखी नहीं हो जाता, उस धन का सदुपयोग करने की कला भी उसमें होनी चाहिए ।

बस, इसी प्रकार दुर्लभतम मानव भव में परिपूर्ण पाँच इन्द्रियाँ मिल गई, इतने मात्र से काम नहीं होगा उन इन्द्रियों का सदुपयोग करने की कला भी चाहिए । यदि वह कला अपने पास न हो तो ये इन्द्रियाँ भयंकर से भयंकर विनाश करा सकती हैं ।

1. स्पर्शनेन्द्रिय की आसक्ति से पतन

संभूति मुनि ने वर्षों तक कठोर संयम व तप किया था । उग्र तप द्वारा उन्होंने अपनी काया को एकदम कृश बना लिया था...परन्तु एक दिन हस्तिनापुर नगर में सनतकुमार चक्रवर्ती अपने अंतः पुर के साथ संभूति मुनि के दर्शनार्थ आए तब अचानक भूल से चक्रवर्ती के स्त्रीरत्न की केशलता का स्पर्श संभूति मुनि को हो गया । बस, उस स्पर्श के साथ ही संभूति मुनि की विचारधारा बदल गई और उन्हें स्त्रीरत्न के भोग में सुख दिखाई देने लगा...और आखिर उन्होंने नियाणा कर लिया, **'मैंने जो तप तपा है, उसके फलस्वरूप आगामी भव में मुझे ऐसे स्त्रीरत्न की प्राप्ति हो ।'**

बस, इस नियाणा के कारण संभूति मुनि आगामी भव में ब्रह्मदत्त चक्री बने, परन्तु उस स्पर्शनेन्द्रिय की आसक्ति के फलस्वरूप मरकर 7 वीं नरक में चले गये ।

ऐसे एक नहीं सैकड़ों प्रसंग हैं कि स्पर्शनेन्द्रिय की आसक्ति के फलस्वरुप अच्छे-अच्छे त्यागी तपस्वी महात्माओं का भी अधः पतन हो गया ।

2. रसनेन्द्रिय आसक्ति से पतन

कंडरीक मुनि ने 1000 वर्ष तक कठोर तप व चारित्र का पालन किया था...परन्तु रसनेन्द्रिय की पराधीनता के कारण उनका भयंकर अधः पतन हो गया । वे चारित्र जीवन हार गए और 7 वीं नरक में चले गए ।

3. चक्षु इन्द्रिय की आसक्ति से पतन

पाप का प्रवेश द्वार आँख हैं। किसी के रूप दर्शन में मुग्ध बनी आँखें आत्मा का घोर पतन कराए बिना नहीं रहती हैं।

तीन खंड का अधिपति रावण जिसके अंतः पुर में स्त्रियों की कोई कमी नहीं थी फिर भी सीता के अद्‌भुत रूप दर्शन के बाद पागल हो गया। किसी भी उपाय से सीता को पाने के लिए उसने भरसक प्रयत्न किए। आखिर सीता तो नहीं मिली किंतु भयंकर युद्ध में बेमौत मारा गया और मरकर चौथी नरक में चला गया।

मणिरथ स्वयं सम्राट् था, परन्तु अपने छोटे भाई युवराज युगबाहु की पत्नी मदनरेखा के अद्‌भुत रूप में आसक्त बना। मदनरेखा को पाने के लिए युगबाहु की छाती में कटार भोंककर उसकी हत्या कर दी। फिर भी मदनरेखा उसे मिल नहीं सकी...और वह मरकर नरक में चला गया।

रूपसेन ! सुनंदा के अद्‌भुत रूप में आसक्त बने रूपसेन ने अपने सात भव बर्बाद कर दिए। उसे सुनंदा तो नहीं मिली...परन्तु सात भवों तक उसका अधः पतन होता गया। आखिर ज्ञानी गुरुदेव के संयोग से सुनंदा को अपनी भूल समझ में आई। सुनंदा ने हाथी के भव में रहे रुपसेन को पुनः सन्मार्ग में स्थिर किया।

संपूर्ण इन्द्रिय-जय के बिना आत्मा का कल्याण संभव नहीं है। अतः मुमुक्षु आत्मा को संपूर्ण इन्द्रिय जय के लिए प्रबल पुरुषार्थ करना चाहिए। एक श्रमण जीवन को सफल बनाने के लिए इन्द्रियों पर नियंत्रण अवश्य चाहिए। जो व्यक्ति अपनी इन्द्रियों को नियंत्रण में रखता है, वही व्यक्ति भविष्य में इन्द्रिय विजेता बन सकता है।

कर्णेन्द्रिय नियंत्रण के उपाय

1. दूसरों की निंदा मत सुनो।
2. **अपनी प्रशंसा सुनने से दूर रहो।**
3. गंदे व अश्लील गीत मत सुनो।

4. सद्गुरु के मुख से नियमित धर्मोपदेश सुनो ।

5. महापुरुषों की प्रशंसा सुनो ।

6. महापुरुषों के जीवन चरित्र सुनो ।

चक्षु इन्द्रिय के नियंत्रण के उपाय

1. सिनेमा, T.V. और नाटक आदि नहीं देखें ।

2. किसी की लड़ाई देखने के लिए खड़े न रहें ।

3. पर-स्त्री के रूप को गौर से न देखें ।

4. अश्लील साहित्य नहीं पढ़ें ।

5. प्रभु के दर्शन नियमित करें ।

6. सत्साहित्य का वाचन सदैव बनाए रखें ।

रसनेन्द्रिय के नियंत्रण के उपाय

1. रात्रि भोजन का त्याग करें ।

2. मांसाहार, शराब, अंडे आदि का त्याग करें ।

3. होटल व बाहर का खाना छोड़ दें ।

4. रसप्रद आहार का त्याग करे ।

5. उन्माद बढ़ाने वाले भोजन का त्याग करें ।

6. मौन रहने का अभ्यास करें ।

7. भूख से अधिक भोजन का त्याग करे !

स्पर्शनेन्द्रिय के नियंत्रण के उपाय

1. पर-स्त्री के अंगोपांग का स्पर्श न करें ।

2. पर-स्त्री के अतिपरिचय से दूर रहें ।

3. वेश्या के संग से दूर रहें ।

4. ब्रह्मचर्य की नौ बाडों का पालन करे !

7 सत्य बोलें-प्रिय बोलें

सत्य अर्थात् यथार्थ वचन, मृषा-वाद का सर्वथा त्याग । असत्य भाषण / मिथ्या वचन एक भयंकर पाप है, जिससे अनर्थ की परम्परा का सर्जन होता है । व्यक्ति क्रोध में आकर, लोभ में फँसकर, हास्य व भय से सत्य बात को छुपा देता है और असत्य बोल देता है ।

असत्य वचन से क्षणिक फायदा हो सकता है परन्तु व्यक्ति सदा के लिए विश्वास खो देता है । मृषावादी किसी का विश्वास-पात्र नहीं रहता है । सत्यवादी सभी का प्रिय पात्र बनता है, उसे इस जीवन में यश की प्राप्ति होती है । सत्यवादी व्यक्ति के जीवन में अनेक प्रकार की लब्धियाँ प्रकट होती हैं ।

सत्य वही है जो प्रिय हो, हितकर हो और तथ्य हो, जिसमें किसी का विनाश रहा हुआ हो, ऐसा सत्य वचन भी असत्य ही कहलाता है, अतः जीवन में सदैव प्रिय व हितकर वचन बोलने का आग्रह रखना चाहिए ।

झूठ अर्थात् जो जैसा है, वैसा नहीं कहना, बल्कि उससे उल्टा बोलना । जैसे घोड़े को गधा कहना, आदि ।

महान् पुण्य के उदय से जीव एकेन्द्रिय से बेइन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चउरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय अवस्था में आता है ।

पंचेन्द्रिय में भी तिर्यंच भव सुलभ है परंतु मनुष्य का भव तो अत्यंत ही दुर्लभ है ।

पंचेन्द्रिय तिर्यंच में भी जीभ तो है, परंतु उस जीभ द्वारा वे एक मात्र खाने का ही काम कर पाते हैं । उनके पास जीभ है, लेकिन उस जीभ द्वारा स्पष्ट उच्चारण नहीं है । वे बोलते हैं, लेकिन उनके भावों को हर कोई समझ नहीं पाता है । मनुष्य को स्पष्ट वाणी मिली है । उस वाणी द्वारा वह अपने हृदय के भावों को स्पष्ट रूप से कह सकता है । वह अपनी वाणी द्वारा अपने सुख-दुःख के संवेदन को व्यक्त कर सकता है ।

व्यक्त वाणी मिली है तो हमारा कर्तव्य है कि हम सत्य बोलें, झूठ न बोलें ।

झूठ बोलने के चार कारण :- प्रायः करके मनुष्य निम्न चार कारणों से झूठ बोलता है ।

1. क्रोध :- जब व्यक्ति क्रोध के अधीन होता है, तब उसके विवेक रूप चक्षु पर आवरण आ जाता है । वह सोच नहीं सकता है, समझ नहीं पाता है । जो भी मन में आया, वह बोल देता है ।

कई बार व्यक्ति आवेश में अंधा हो जाता है । नहीं बोलने के शब्द बोल देता है । जब उसका आवेश उतर जाता है, तब उसे सत्य का भान होता है कि उसने क्या बोल दिया ?

आवेश बहुत बुरी चीज है, क्योंकि उसमें दिमाग से नियंत्रण हट जाता है । अतः झूठ से बचना है तो आवेश में नहीं आना चाहिए ।

2. लोभ :- जब भीतर लोभ बैठा होता है, तब भी व्यक्ति सत्य बोलने से कतराता है । वह झूठ का आश्रय लेता है । व्यापारी झूठ बोलता है लोभ के कारण ।

50 रुपए में व्यापारी ने माल खरीदा हो तो भी उस माल को बेचते समय ग्राहक को कहता है कि यह वस्तु 70 रुपए में पड़ी है, तुम बहुत परिचित हो, इसलिए तुमसे ज्यादा मुनाफा नहीं ले रहा हूँ । तुम ले जाओ सिर्फ 75 रुपए में ।

धन का लोभी व्यक्ति झूठ बोले बिना नहीं रह पाता है । लोभ और सत्य का परस्पर वैर है । लोभी हो और सत्य बोले, यह हो नहीं सकता । अतः झूठ से बचना है तो अपने जीवन को लोभ से मुक्त करना होगा ।

3. भय :- जब व्यक्ति भयग्रस्त होता है, तब भी झूठ का आश्रय लेता है । चोर चोरी करते हुए पकड़ा गया हो तो भी सत्य नहीं बोलेगा, क्योंकि उसे भय है, **'मैं सत्य बोलूंगा तो मुझे मार पड़ेगी ।'**

बालक के हाथ से काच का गिलास फूट गया हो तो भी वह नहीं कहेगा कि यह मैंने फोड़ा है । वह मौन हो जाएगा अथवा अपनी भूल का बचाव करेगा ।

अतः झूठ से बचना है तो भयमुक्त हो जाना चाहिए। जब मैंने गलती की है तो मुझे उसकी सजा से क्यों ड़रना चाहिए। जब गुनाह किया ही है तो उसकी सजा भुगतने के लिए मुझे तैयार होना ही चाहिए।

4. हास्य :- जब व्यक्ति किसी की हँसी-मजाक करता है, तब भी झूठ का आश्रय करता है। हँसी-मजाक में अपने ही मित्र के चप्पल छुपाकर कह देता है कि मुझे पता नहीं है।

वीतराग कभी झूठ नहीं बोलते :- आत्मा के अंतरंग शत्रुभूत राग-द्वेष से जो सर्वथा मुक्त हो चुके हैं, ऐसे वीतराग परमात्मा को झूठ बोलने का कोई प्रयोजन नहीं होता है, क्योंकि व्यक्ति क्रोध, लोभ, भय और हास्य से झूठ बोलता है जबकि जो वीतराग बन चुके हैं, उनमें इन चारों में से एक भी कारण विद्यमान नहीं है।

जब कारण ही न हो तो कार्य कहाँ से पैदा होगा ? क्रोध आदि विद्यमान हों तभी झूठ बोलने रूप कार्य पैदा होता है।

मोहनीय कर्म का सर्वथा क्षय हुए बिना आत्मा वीतराग नहीं बनती है। मोहाधीन आत्मा में ही क्रोध होता है, लोभ होता है, भय होता है और हास्य होता है परंतु वीतराग आत्मा में इनमें से कुछ भी नहीं होता है इसलिए वीतराग परमात्मा कभी झूठ नहीं बोलते हैं।

झूठ के 4 प्रकार :-

1. भूत निह्नव :- जो वस्तु विद्यमान हो, उसे छिपाना। जैसे-आत्मा, पुण्य-पाप जैसे पदार्थ विद्यमान होने पर भी कहना कि आत्मा व पुण्य-पाप जैसी कोई वस्तु नहीं है। इस प्रकार जो विद्यमान वस्तु है, उसका निषेध करना, यह भी एक प्रकार का झूठ ही है।

जो घटना बनी हो, उस घटना को छिपाना, उसे भी भूत निह्नव कहते हैं। जैसे-किसी ने हमें रुपए उधार दिए हों, परंतु वो ही व्यक्ति जब रकम माँगने के लिए आए तब मना कर देना कि तुमने मुझे रुपए कहाँ दिये हैं ? अथवा स्वयं के पास में रुपए होने पर भी कहना मेरे पास रुपए नहीं हैं।

2. अभूतोद्‌भावन :- जिस वस्तु का जो स्वरूप न हो, उसे उस

रूप में प्रतिपादित करना, जैसे-आत्मा विश्वव्यापी है, आत्मा अंगूठे के पर्व में रही हुई है ।

व्यवहार में जो घटना नहीं बनी हो, फिर भी कहना उसे भी अभूतोद्भावन कहते हैं । जैसे-किसी ने अपने पास से कोई वस्तु नहीं ली हो फिर भी कहना, **``तुमने मेरे पास से अमुक वस्तु ली है ।''**

3. अर्थांतर :- जो वस्तु जिस रूप में न हो, उसे उस रूप में कहना, जैसे-गाय को घोड़ा कहना, घोड़े को गधा कहना ।

किसी घटना को बदलकर कहना, जैसे किसी को 500 रुपए उधार दिये हों तो कुछ समय बाद कहना, ``मैंने तुम्हें 600 रुपए उधार दिए थे ।'' पुराने माल को नया माल कहना । ग्राहक को 5 रुपए के माल के 7 रुपए कहना आदि

4. गर्हा :- शास्त्र में निषिद्ध ऐसी भाषा बोलना । दूसरों को हिंसा आदि पापकर्म में प्रेरणा देना । एकाक्ष को काणा कहना, इस प्रकार अप्रिय वचन बोलना । `तू वेश्यापुत्र है'-इस प्रकार आक्रोशवाली कठोर भाषा बोलना ।''

पक्खी सूत्र में छह प्रकार की भाषा अप्रशस्त अर्थात् निंदनीय कही है–

1) हीलिता :- अवज्ञा और अनादरपूर्वक वचन बोलना, उसे हीलिता कहते हैं । जैसे-**``हे महाराज ! क्या करते हो ?''**

2) खिंसिता :- निंदापूर्वक बोलना, उसे खिंसिता कहते हैं । अरे ! उसे तो मैं अच्छी तरह से जानता हूँ वह कैसा है ? मुझे सब पता है ।

3) परुष :- गालीपूर्वक कठोर वचन बोलना । **``अरे ! दुष्ट'' तुझे खत्म कर दूंगा ।''** इत्यादि ।

4) अलीका :- दिन में नींद ले रहे, उस समय गुरु कहे, **``दिन में क्यों सोते हो ? तो जगकर तुरंत कहना ! मैं कहाँ सोता हूँ ? मैं तो जग रहा हूँ ।''**

5) गार्हस्थी :- दीक्षा लेने के पूर्व जो सांसारिक संबंधी थे, उन्हें उस संबंध को याद कर उस संबंध से बुलाना । जैसे **``अहो ! ये तो मेरे मामा है''** ये मेरे चाचा है ।

6) उपशमित कलह-प्रवर्तनी :- झगड़ा शांत हो गया हो, फिर भी ऐसे शब्द बोलना कि जिससे शांत हुआ झगड़ा पुनः जागृत हो जाय। जैसे-यह वही आदमी है, जिसने मेरे घर में चोरी की थी। इस प्रकार बोलने से जो झगड़ा पहले शांत हो गया था, वह झगड़ा पुनः जागृत होता है।

अप्रिय और चालक सत्य-सत्य नहीं है :-

अहिंसा आदि पाँच व्रतों में अहिंसा व्रत की मुख्यता है। अन्य सभी व्रत उस अहिंसा धर्म के पालन के लिए हैं।

अहिंसा खेती है, जबकि अन्य सभी व्रत बाड हैं। खेत के चारों ओर कांटों की बाड़ की जाती है, वह अनाज के रक्षण के लिए ही करते हैं। उसी प्रकार अन्य व्रतों का पालन भी अहिंसा व्रत के पालन के लिए ही है।

अतः ऐसा सत्य वचन भी असत्य वचन ही है, जिसे बोलने से दूसरे के प्राण नष्ट होते हों।

उदाहरण-किसी व्यक्ति ने हिरण को भागते हुए देखा। पीछे से किसी शिकारी ने आकर उस व्यक्ति को पूछा, **''हिरण किस दिशा में गया है ?''**

यहाँ वह व्यक्ति सही दिशा बतला देता है तो शिकारी उस हिरण को मार ड़ालेगा। तो ऐसे प्रसंग में सत्य बोलना भी असत्य ही कहलाता है।

पर-पीड़ाकर वचन न बोलें :- सत्य बोलने पर भी सामने वाले को दुःख होता हो तो ऐसा सत्य वचन न बोलें। जैसे-एकाक्ष व्यक्ति को काणा कहने से उसे दुःख होता है। अंधे व्यक्ति को अंधा कहने से भी दुःख होता है। अतः जो सत्य परपीड़ाकारी हो, ऐसा सत्य भी नहीं बोलना चाहिए।

योगशास्त्र में कहा है-

''प्रियं पथ्यं वचस्तथ्यं, सुनृतव्रतमुच्यते।
तत्तथ्यमपि नो तथ्यमप्रियं चाहितं च यत् ॥

प्रिय, हितकारी और सत्य वचन बोलना, उसे सत्यव्रत कहा

गया है । जो वचन अप्रिय और अहितकारी हो वह तथ्य वचन भी सत्य नहीं कहलाता है ।

जो व्यक्ति कभी असत्य नहीं बोलता है, ऐसे व्यक्ति पर कभी भी क्षुद्र देवता भी उपद्रव नहीं करते हैं ।

अहिंसा रूपी जल के रक्षण के लिए अन्य सभी व्रत दीवार समान है । सत्य का भंग होने पर दीवार का खंड़न होता है, जिससे अहिंसा रूपी जल नष्ट हो जाता है । अतः आत्मकल्याण के इच्छुक पुरुष को सदैव सत्यवचन ही बोलने चाहिए ।

जो व्यक्ति हमेशा सत्य बोलता है, देवता भी उस व्यक्ति का पक्ष करते हैं । अग्नि आदि के सभी उपद्रव भी शांत हो जाते हैं ।

वाणी के छह गुण :–

1) मधुरता :– संत तुलसीदासजी ने ठीक ही कहा है–

'तुलसी मीठे वचन से, सुख उपजत चींहु ओर ।
वशीकरण यह मंत्र है, तज दो वचन कठोर ।'

वाणी में यदि मधुरता-मीठास हो तो व्यक्ति सभी के दिल में बस जाता है और वाणी में यदि कडवाश है तो व्यक्ति दिल से उतर जाता है ।

स्वामी विवेकानंद ने चिकागो में विश्वधर्म परिषद में सभी को संबोधन करते हुए 'My dear Ladies and Gentleman के बदले My dear brothers and sisters कहकर सभी के दिल को जीत लिया था ।

किसी ने ठीक ही कहा है–

शब्द शब्द तूं क्या करे, शब्द के हाथ न पांव ।
एक शब्द औषध करे, एक शब्द करे घाव ।।

मीठे व मधुर वचन सामनेवाले के दिल में पडे घाव को भर देते हैं, जब कि कटु वचन सामनेवाले के दिल में घाव पैदा कर देते हैं ।

किसी अनजान स्त्री को भी माँ या बहन का संबोधन किया जाता है तो वह मधुर लगता है और एक कटुवचन अपने को भी पराया बना देते है ।

एक कडवी जबान द्वारा रावण ने बिभीषण को खो दिया और मीठी जबान से राम ने बिभीषण को भी अपना बना दिया था ।

दशवैकालिक सूत्र में **'काणे को भी काणा'** कहने का निषेध किया है ।

जो साधु निरंतर कडवी भाषा का प्रयोग करता है, कर्मसत्ता उसे अगले जन्म में स्थावर काय अर्थात् एकेन्द्रिय में भेज देती है जहां उसे हमेशा के लिए बोलने का अवकाश ही नहीं रहता हैं उसे सदा के लिए मौन हो जाना पडता है ।

जीवन-व्यवहार को चलाने के लिए मनुष्य को कदम-कदम पर शब्दों का आश्रय लेना ही पडता है । वाणी का सबसे पहला गुण है- **मधुरता ।**

वाणी में माधुर्य होना चाहिये । मीठी भाषा में कही कडवी बात भी स्वीकार्य हो जाती है जब कि कठोर व कर्कश भाषा में कही गई हितकर बात भी कोई सुनने के लिए तैयार नहीं रहता है ।

दीपक की ज्योत अंधकार को हटाती है और प्रकाश पैदा करती है, जब कि जंगल का दावानल भयंकर विनाश ही करता है ।

रसोडे में रही आग भोजन पकाकर देती है, जब कि गोदाम में लगी आग आदमी को भिखारी बना देती है ।

बस, इसी प्रकार वाणी में यदि मधुरता हो तो वे शब्द दीपक बनकर प्रकाश प्रदान कर सकते है और वाणी में यदि मधुरता नहीं है तो वे ही शब्द दावानल बनकर भयंकर विनाश भी कर सकते है ।

कहा भी है,

क्रोधे क्रोड पूरव तणुं, संयम फल जाय ।
क्रोध सहिततप जे करे, ते तो लेखे न थाय ।।

करोडों वर्षों तक तप तपा है । परन्तु व्यक्ति आवेश में आकर नहीं बोलने के शब्द बोल देता है तो उसकी सारी तपश्चर्या का फल भस्मीभूत हो जाता है । अग्निशर्मा तापस ने करोडो वर्षों तक तप किया था परन्तु आवेश में आकर उसने निदान कर लिया तो उसका सारा तप निष्फल चला गया ।

आवेश में बोले गए शब्द बहुत ही खतरनाक होते हैं । वे एक प्रशांत वातावरण को भयंकर दावानल में बदल देते है ।

कहा भी है

छूरी का तीर का तलवार का घाव भरेगा,

लगा जो जख्म जबां का, रहा वो हमेशा हराभरा ।

छूरी, तीर व तलवार के प्रहार से पैदा हुआ घाव भरा जा सकता है, परन्तु जो कटु शब्दों से लगा हुआ घाव है, उसे भरना अत्यंत ही कठिन कार्य है । इसीलिए कहा गया है, बोलने के पूर्व सो बार सोचे ।

बिना सोचे समझे जो जैसे तैसे बोल देता है, उसे बाद में पछताना ही पडता है । बाजी हाथ में से निकल जाने के बाद फिर चाहे जितना पछतावा करे बाजी सुधर नहीं पाती है ।

कुत्ते की जीभ की विशेषता है कि वह अपने शरीर पर लगे जख्म को अपनी जीभ घूमाकर धीरे धीरे मिटा देता है, अर्थात् उसे अपने घाव पर किसी प्रकार का क्रीम लगाने की जरुरत नहीं पडती है, जब कि मानव को मिली हुई जीभ तो ऐसी है जो नए जख्म को पैदा कर देती है ।

चाकू, तलवार, छूरी आदि तीक्ष्ण होते है, उनके प्रहार से घाव पैदा हो, उसमें कोई आश्चर्य नहीं है परन्तु मानव की जीभ तो कितनी कोमल है, फिर भी वह ऐसा घाव पैदा कर देती है, जिसे जिंदगीभर के श्रम द्वारा भी भरा नहीं जा सकता है ।

कल क्या खाया वह हमें याद नहीं रहता, उसे हम जल्दी भूल जाते हैं । आंख से देखा हुआ भी समय बीतने पर भूल जाते हैं, परन्तु आश्चर्य है कि किसी के द्वारा हमें कहे गए कटु शब्दों को हम जीवन पर्यंत भूलते नहीं है । बार-बार उसे याद कर उसका पूरा पूरा बदला लेना चाहते हैं ।

वाणी माधुर्य व वाणी चातुर्य

एक बार एक राजा को स्वप्न आया कि उसके बत्तीस दांत गिर गए है । प्रातः काल होने पर उसने किसी ज्योतिषी को बुलाकर पूछा, ``इस स्वप्न का क्या फल होगा ?''

ज्योतिषी ज्योतिष विद्या में बहुत होशियार था । परन्तु उसे

बोलने का विवेक नहीं था, अतः उसने कहा दिया, **``राजन् ! आपकी शीघ्र ही मृत्यु हो जाएगी ।''**

इस बात को सुनकर क्रुद्ध होकर राजा ने उसे निकाल दिया ।

फिर उसने दूसरे ज्योतिषी को बुलाया और उसे अपने स्वप्न की बात कही ।

उस होशियार व चतुर ज्योतिषी ने कहा, **``राजन् ! आप भाग्यशाली हो, आपका आयुष्य खुब लंबा है, आपको अपने जीवन में कभी भी अपने स्वजन की मृत्यु देखनी नहीं पडेगी ।''**

इस फलादेश को सुनकर राजा अत्यंत ही प्रसन्न हो गया और उसे बहुत बडा इनाम देकर विदाई दी ।

सूक्ष्म दृष्टि से सोचा जाय तो मालूम पडेगा-दोनों ज्योतिषी के फलादेश तो समान ही थे परन्तु बोलने की पद्धति के कारण ही एक को अपमान मिला और एक को सम्मान ।

किसी राजा का मंत्री अपने दुश्मन राजा के दरबार में पहुंच गया । दुश्मन राजा की प्रशंसा करने की बारी आई तो उस चतुर मंत्री ने कहा ``हमारे राजा दूज के चांद है जब कि आप तो पूनम के चांद हो ।''

मंत्री की इस बात को सुनकर वह दुश्मन राजा भी प्रसन्न हो गया ।

मंत्री के इस जवाब को सुनकर किसी ने पहले राजा के कान फूंकते हुए कहा, **``आपका मंत्री दुश्मन राजा के पास आपकी ही निंदा करता है, वह आपको हल्का बतलाता है ।''**

राजा ने मंत्री को बुलाया और पूछा, **``तुमने मेरे दुश्मन राजा के सामने क्या कहा था ?''**

मंत्री ने कहा, **``राजन् ! मैंने तो आपकी वहाँ प्रशंसा ही की है ।''**

``कैसे ?''

``मैंने आपको दूज का चांद कहा और दुश्मन राजा को पूनम का चांद । पूनम का चांद तो दूसरे ही दिन से क्षीण होने लगता है, जबकि दूज का चांद प्रतिदिन वृद्धि को पाता रहता है, इतना ही नहीं,

पूनम के चांद के कोई दर्शन नहीं करता है, जब कि दूज के तांद के सभी दर्शन करने जाते है । आप ही कहे मैने आपकी निंदा की या प्रशंसा ?''

जवाब सुनकर राजा खुश हो गया । यह है वाणी चातुर्य का चमत्कार ।

यदि आपकी वाणी में माधुर्य नहीं है तो आपके शब्द आपके घर में चिनगारी का काम कर सकते है और इसके फल स्वरुप भाई-भाई के बीच पिता-पुत्र के बीच, पति-पत्नी के बीच, भाई-बहन के बीच व मित्र-मित्र के बीच संबंधों में दरारे पड सकती है ।

सज्जन व दुर्जन की वाणी को गाय व सर्प के साथ तुलना कर सकते है । गाय घास खाकर भी दूध देती है, इसी प्रकार सज्जन के शब्द किसी के घाव पर मलहम पट्टी का ही काम करते हैं, जब कि दुर्जन व्यक्ति उस सांप की भांति होता है, जो दूध को भी विष में बदल देता है । बस, इसी प्रकार दुर्जन व्यक्ति अपने कटु शब्दों द्वारा वातावरण को विषमय बना देता है ।

मधुर वचन का चमत्कार

वाणी सुई जैसी हो, कैंची जैसी नहीं । कैंची काटने / फाडने का काम करती है जब कि सुई जोडने का । दर्जी अपनी सुई को पगडी में रखता है, क्योंकि वह जोडने का काम करती है, जब कि कैंची को अपने पैरों के पास रखता है, क्यों कि वह काटने का काम करती है ।

मनुष्य की अपनी वाणी सुई के समान होनी चाहियें ।

प्रासंगिक बोले

संस्कृत में एक सुभाषित हैं–

अवसर पठितावाणी, गुणगणरहितापि शोभते पुंसाम् ।
वामे प्रमाण समये, गर्दभ शब्दोऽपि मंगलं तनुते ।।

सही अवसर आने पर बोले गए गुण रहित शब्द भी महान् लाभ

का कारण बन जाते है । बाई ओर प्रयाण के समय गधे का रेंगना भी शुभ शकुन बन जाता है ।

किसी को उपदेश के शब्द भी उचित समय पर कहे जाय तो लाभ का कारण बनते है और निरर्थक और जब-कभी बोले जाय तो उन शब्दों का कोई अर्थ नहीं रह पाता है ।

जिस प्रकार लग्न के प्रसंग पर लग्न के व शोक के प्रसंग पर विरह गीत ही उपयुक्त गिने जाते है, उसी प्रकार बोलते समय यह बात ध्यान में रखनी चाहिये कि अभी प्रसंग किस बात का है ।

उपदेश देने में भी इस सावधानी की आवश्यकता रहती है । तप का वातावरण हो और वहाँ दान धर्म का उपदेश दे या दान का प्रसंग खडा हो और वहाँ तप धर्म की बातें करें तो उसका कोई विशेष मूल्य नहीं रहता है । अतः जिस समय जो प्रसंग चल रहा हो, उसके अनुसार ही प्रासंगिक बात बोलनी चाहिये ।

2) अवसर के उचित बोले :– लग्न का प्रसंग चल रहा हो तब **'राम नाम सत्य है'** नहीं बोला जाता है ।

अवसर देखकर बोले गए शब्द खूब लाभ का काम करते है ।

साधु को भी अवसर के उचित उपदेश देना चाहिए ।

- प्रतिष्ठा का प्रसंग हो तो प्रभु भक्ति की महिमा समझानी चाहिए ।
- **दुष्काल का समय हो तो दान धर्म का उपदेश देना चाहिए ।**
- पर्वाधिराज के दिन हो तो तप धर्म की महिमा समझानी चाहिए ।

3) हितकारक बोले :– सत्य बात कहने से भी सामनेवाला का अहित होता हो तो ऐसा सत्य भी नहीं बोलना चाहिए ।

साधु को हमेशा हितकारक उपदेश ही देना चाहिए । सामनेवाले का बुरा होता हो, ऐसे शब्द कभी नहीं बोलना चाहिए ।

4) सत्य बोले :– जब भी बोलने का प्रसंग आए, सत्य ही बोलना चाहिए, असत्य कदापि नहीं !

किसी के ऊपर झूठा आरोप कभी नहीं लगाना चाहिए। दूसरों के ऊपर झूठा आरोप लगाने से सामनेवाले का बुरा होगा या नहीं, किंतु अपना बुरा तो अवश्य हो ही जाता है।

❀ वेगवती ने निर्दोष महात्मा पर चारित्र भ्रष्टता का आरोप लगाया, इसके परिणाम स्वरुप अगले जन्म में सीता के भव में निर्दोष होने पर भी कलंक आया। अतः किसी के ऊपर झूठा आरोप कभी नहीं लगाना चाहिए।

5) सोच-समझकर बोले–ठीक ही कहा है

अक्कलमंद इंसान हमेशा बोलता है तोलकर।

बेवकूफ इंसान हमेशा तोलता है बोलकर।

बोलने के बाद सोचना, उससे तो बेहतर है सोचकर बोलना। जो व्यक्ति पहले सोचता है और फिर बोलता है, उसे कभी पछताना नहीं पडता है और जो सोचे समझे बिना बोल देता है, उसे बाद में पछताना ही पडता है।

'बोली बोल अमोल हैं, बोल सके तो बोल।

पहले भीतर तोलकर, फिर बाहर को खोल!'

6) भूल का स्वीकार करे :– अपनी भूल हो गई हो तो तुरंत ही मिच्छा मि दुक्कडम् या Sorry Please कहकर अपनी भूल का स्वीकार करना चाहिए, परंतु कभी भी अपनी भूल का बचाव नहीं करना चाहिए।

भूल का स्वीकार करने से भूल सुधर जाती है, और भूल का बचाव करने से वह भूल Double दुगुना हो जाती है।

वाणी के दो दोष :–

आत्म प्रशंसा और पर निंदा

खुद की प्रशंसा करने से और दूसरों की निंदा करने से आत्मा ऐसे भयंकर नीच गोत्र कर्म का बंध करती है जिसके फलस्वरुप करोडों भवों तक नीच गोत्र प्राप्त होता है।

❀ वाणी के ये दोनों दोष, आत्मा के अहंकार को पुष्ट करते है।

❀ **सच्चा आत्मसाधक इन दोनो दोषों से अपने आपको बचाने की पूरी कोशिश करता है।**

ठीक ही कहा हैं–

–बडे बडाइ न करे, बडे न बोले बोल ।

हीरा मुख से ना कहे, लाख हमारो मोल ।।

सच्चा हीरा कभी अपने मुंह से अपनी प्रशंसा नहीं करता हैं, परंतु वह अपने गुणों से ही ख्याति प्राप्त करता है ज्ञानसार में **पू. उपाध्यायजी म.** ने ठीक ही कहा है–

यदि तू गुणों से परिपूर्ण नहीं है तो तुझे अपनी आत्म प्रशंसा करने की जरुरत नहीं है ।

यदि तू गुणों से परिपूर्ण है तो भी तुझे अपनी आत्म गुणों की प्रशंसा करने की जरुरत नहीं है ।

–**दूसरों की निंदा करना, जितना बुरा है, उतना ही बुरा दूसरों की निंदा सुनना भी है ।**

दूसरों की निंदा करने में और दूसरों की निंदा सुनने में जो रस लेता है, वह आगामी जन्मों में मुक और बधिर बनता है, अतः आत्महित इच्छुक साधु को परनिंदा करने व परनिंदा श्रवण से हमेशा बचना चाहिए।

प्रसंग आने पर बोलना पडे तो उसमें भी आत्मश्लाघा व परनिंदा की वृत्ति नहीं होनी चाहिये। आत्म प्रशंसा तो आत्म कल्याण के मार्ग में विष तुल्य है, अतः उससे अवश्य बचने का प्रयास करना चाहिये और दूसरों की निंदा तो भूल से भी नहीं करनी चाहिये । परनिंदा के परिणाम अत्यंत ही कटु होते है ।

कहा है–

पर-परिभव-परिवादा-दात्मोत्कर्षाच्च बध्यते कर्म ।

नीचै-र्गौत्रं प्रति-भव-मनेक-भवकोटि-दुर्मोचम् ।।

500 ग्रंथ के प्रणेता पूर्वधर महर्षि श्रीमद् उमास्वातिजी म. ने प्रशमरति ग्रंथ में कहा है कि–

'दूसरों की निंदा और आत्म-प्रशंसा करने से इस प्रकार के नीच गोत्र कर्म का बंध होता हैं कि अनेक भवों तक नीच गोत्र पाने पर भी व्यक्ति उस कर्म के बंधन में से मुक्त नहीं हो पाता है ।'

भगवान महावीर की आत्मा ने अपने पूर्व के तीसरे मरीची के भव में अभिमान करते हुए कहा,

'अहो ! मेरा कुल कितना ऊँचा मेरे दादा पहले तीर्थंकर... मेरे पिता प्रथम चक्रवर्ती...और मैं भविष्य में प्रथम वासुदेव बनूंगा। अहो ! मेरे कुल कितना उत्तम है।'

बस, गर्व से बोले गए इन शब्दों के कारण मरीची ने नीच गोत्र कर्म का ऐसा तीव्र बंध किया कि जिसके फल स्वरुप अनेक भवों तक उन्हें नीच गोत्र कर्म का उदय बना रहा। यावत् इस कर्म का अवशेष रह जाने के कारण अंतिम भव में भी उन्हें 82 दिन तक ब्राह्मणी की कुक्षी में रहना पडा था।

असत्यवचन का फल

जिस प्रकार अपथ्य सेवन से शरीर में अनेक प्रकार के रोग बढ़ते हैं, उसी प्रकार असत्य वचन से वैर, विषाद तथा अविश्वास आदि अनेक दोष पैदा होते हैं।

जो व्यक्ति झूठ बोलता हो, उस पर कौन विश्वास करेगा ?

जो व्यक्ति जान-बुझकर असत्य बोलता है, उसे मरकर नरक, निगोद व तिर्यंचगति में जाना पड़ता है।

सत्यव्रत का फल :- जो व्यक्ति किसी भी संयोग में कभी भी झूठ नहीं बोलता है, ऐसे व्यक्ति के चरण स्पर्श से यह पृथ्वी भी पवित्र बनती है।

भाषा की मर्यादा को बनाए रखने के लिए साधु के लिए दो माताओं का विधान किया गया हैं-वे है भाषा समिति और वचन गुप्ति।

समिति प्रवृत्ति प्रधान है, जब कि गुप्ति में प्रवृत्ति-निवृत्ति दोनों रही हुई है।

विवेक रुपी वस्त्र से छानकर ही वाणी का प्रयोग करना चाहियें-अन्यथा भयंकर अनर्थ हो सकता है।

अवसर-अनुचित न बोले

एक बार एक महात्मा किसी के घर गोचरी के लिए पधारें। घर में सिर्फ एक स्त्री ही थी। उस स्त्री का पति बरसों से परदेश गया हुआ था, उसके आगमन के कोई समाचार नहीं थे।

महात्मा को गोचरी बहोराने के बाद उस स्त्री ने महात्मा को पूछ लिया, **''मेरे पतिदेव कब घर लौटेंगे ?''**

मुनि ज्योतिष-शास्त्र के ज्ञाता थे। यद्यपि जितनी जानकारी हो वह सब कुछ बोल देने के लिए नहीं होती है।

साधु के वचन की अपनी मर्यादाएँ होती है, उन मर्यादाओं का वे पालन न करे तो उन्हें भयंकर नुकसान हो सकता है।

मुनि ने अपने हिताहित का विचार किए बिना ही कह दिया–**''तेरा पति आज संध्या समय घर लौटेगा।''**

बस, मुनि-वचन से पति के आगमन को जानकर वह अत्यंत ही उत्सुक बन गई। उसने अपने घर की अच्छी तरह सफाई की। सुंदर रसोई बनाई और 16 शणगार सजकर अपने पति के आगमन की प्रतीक्षा करने लगी।

मुनि के निर्देशानुसार उसका पति ठीक संध्या समय अपने घर आ गया। पति ने अपनी पत्नी को सोलह शणगार से सुसज्ज देखी और उसके मन में एकदम संदेह पैदा हो गया। मेरी पत्नी का चरित्र अच्छा नहीं है। मैंने अपने आगमन के किसी के समाचार नहीं दिए-फिर भी वह इस प्रकार का शणगार करती है, इसका मतलब है कि वह पतिव्रता नारी नहीं है।

पति के समाधान के लिए पत्नी ने मुनिवचन की बात की। मुनिवचन की बात सुनने पर भी उसका संदेह दूर नहीं हो पाया।

आखिर वह मुनि के पास गया और मुनि के वचन की परीक्षा करने के लिए उसने पूछा, **''मेरे घर पर जो सगर्भा घोडी है, उसके पेट में कितने बच्चे है और उसमें नर व मादा कितने है ?''**

गृहस्थ जीवन संबंधी व सावद्य भाषा मुनि के लिए वर्जित है। परन्तु इस बात का कुछ भी विचार किए बिना उन मुनि ने कह दिया, **``इस घोडी के पेट में दो बच्चें है, उसमें एक नर है व दूसरा मादा।''**

बस, मुनि के मुख से इस बात को सुनकर वह भाई अपने घर चला गया और मुनिवचन की परीक्षा के लिए उसने घोडी का पेट तलवार से चीर डाला। उसी समय तडफते हुए दो बच्चे बाहर निकले। जिसमें एक नर बच्चा था व दूसरा मादा।

अब उसे मुनि-वचन पर विश्वास आ गया। उसकी पत्नी को इस बात का पता चला कि निष्कारण ही तीन प्राणियों की हत्या हो गई। इस बात को जानकर उसे अत्यंत ही आघात लगा और तत्क्षण उसने भी आत्महत्या कर अपने जीवन का अंत ला दिया।

पत्नी की मृत्यु को जानकर उसके पति को भी लगा, **'अहो !'** अब पत्नी मर गई है तो इस जीवन का अर्थ ही क्या है ! उसने भी आत्महत्या कर दी।

जब पांच पांच जीवों की मृत्यु के समाचार उन मुनि को मिले तो उन्हें भी अपनी भूल का ख्याल आ गया। अत्यंत आघात में उनकी भी मृत्यु हो गई।

जैसे डॉक्टर और वैद्य दर्दी के रोग की पहिचान उसकी जीभ के आधार पर करते है। जीभ देखकर रोग का अनुमान करते है, उसी प्रकार मानवी की सही पहिचान उसकी जीभ से ही होती है।

जीभ से व्यक्ति क्या, कैसे, किस प्रकार, कब व कितना बोलता है ? उसके आधार पर व्यक्ति का वास्तविक मूल्यांकन होता है।

अवसर देखकर जो थोडा भी बोलता है, उसके शब्द अत्यंत ही कीमती बन जाते है और जो बिना अवसर जैसे-तैसे बोलता रहता हैं, उसके शब्द का कोई मूल्य नहीं रह पाता है।

एक अंध व्यक्ति को अंधा भी कहा जा सकता है, सुरदास और प्रज्ञाचक्षु भी। अंधे के संबोधन में तिरस्कार का भाव रहा हुआ है, जब कि सुरदास के संबोधन में कुछ नम्रता झलकती है और प्रज्ञा चक्षु के संबोधन में आदर भाव दिखाई पडता है।

सबसे भयंकर जहर: सबसे ऊँचा अमृत

एक बार सम्राट् अकबर ने अपनी राजसभा में प्रश्न किया- **`सबसे भयंकर जहर कौनसा है ?'**

अकबर के इस प्रश्न को सुनकर किसी ने कहा **`बिच्छु का जहर भयंकर है'** तो किसी ने कहा-**`कुत्ते का'** तो किसी ने कहा-**`सांप का ।'**

इन जवाबों को सुनकर अकबर को संतोष नहीं हुआ । आखिर उसने बिरबल को पूछा ।

बिरबल ने कहा, **``सबसे भयंकर जहर मानवी की जीभ पर रहा हुआ है । मानवी जब काटता है तो उसका जहर इतना गहरा पहुंच जाता है कि उस जहर को निर्मूल करना भी कठिन हो जाता है ।''**

बिरबल के इस जवाब को सुनने के बाद अकबार ने दूसरा सवाल किया, **``इस दुनिया में अमृत का वास कहाँ है ?''**

अकबर के इस प्रश्न को सुनकर किसी ने कहा, **`फलों का राजा आम'**...तो किसी ने किसी मिठाई आदि का नाम दिया...आखिर में जब अकबर ने बिरबल को पूछा तो बिरबल ने कहा, **``इस दुनिया में अमृत का वास मानव की जीभ पर है ।**

इस बात को सुनकर अकबर को बहुत आश्चर्य हुआ कि एक ही जीभ पर अमृत और विष दोनों का वास कैसे संभव है ?''

अकबर ने कहा, **``बिरबल ! यह बात मेरी समझ में नहीं आ रही है कि एक ही जीभ पर विष और अमृत दोनों का वास है ।''**

बिरबल ने कहा, **``जहांपनाह ! आप मुझे 7 दिन का समय दीजिए । मैं इस बात को सिद्ध कर आपको बता दूंगा ।''**

अकबर ने बिरबल की शर्त मंजुर कर दी । कुछ ही दिनों के बाद बिरबल ने किसी निमित्त को पाकर अपने घर भोजन समारंभ रखा और उसमें अकबर की मुख्य बेगम को मुख्य अतिथि के रुप में आमंत्रण दिया ।

जैसे ही भोजन का समय हुआ । बिरबल ने बड़े ही आदर व सम्मान के साथ बेगमसाब को अपने घर बुलाया और खुब आदर सम्मान के साथ बेगमसाब का स्वागत किया ।

बिरबल बोलता था, तब बेगम साहब को ऐसा लगता था, मानों बिरबल के मुंह में से अमृत बरस रहा हो ।

बिरबल ने खूब आगता स्वागत के साथ बेगमसाब को भोजन पिरसा ।

बिरबल ने बारबार आग्रह कर बेगमसाहब को भूख से कुछ ज्यादा ही खिलाया ।

भोजन की समाप्ति के बाद बेगमसाहब जैसे ही विदाई लेने लगी, बिरबल ने उन्हें मान-सम्मान के साथ विदाई दी ।

इधर विदाई लेकर बेगमसाहब अभी तक द्वार तक भी नहीं पहुंच पाई थी । तभी बिरबल ने अपने साथी को कहा, **``यह बेगम है या कौन है ? कितनी भूक्कड ? तीन आदमियों का खाना यह अकेली चट कर गई ?''**

बिरबल के ये शब्द बेगमसाहब के कानों में गिरे ! बस, जैसे ही ये शब्द सुनाई दिए, उसके आघात का पार न रहा ।

`अरे ! यह कैसा दंभी बिरबल ! पहले तो मुझे भोजन के लिए अति आग्रह कर आमंत्रण देता है और पीठ पीछे मेरी, निंदा करता है ।'

बेगमशाह के लिए तो खाना जहर हो गया ।

वह जैसे तैसे अपने महल में तो पहुंची परन्तु उसके आवेश की सीमा न रही ! अहो ! इस बिरबल ने मेरा कैसा घोर अपमान कर दिया । ऐसी अपमान भरी जिंदगी जीने के बजाय तो मर जाना श्रेष्ठ है ! अब या तो वह जिंदा रहेगा या मैं जिंदा रहूंगी ।

बस, कुछ ही समय बाद जैसे ही अकबर का आगमन हुआ । बेगमसाहब ने अपना स्त्री-चरित्र भजना चालू कर दिया ।

बेगमशाह एक कोने में सून-मून होकर बैठी हुई थी ।

अकबर ने बेगमसाहब की इस स्थिति को देखकर पूछा, **``बेगम ! तूं इतनी उदास क्यों है । क्या तेरे को किसी प्रकार की तकलीफ है ? या किसी ने तेरा अपमान किया है ?''**

अकबर की इस बात को सुनकर रोती हुई सूरत में वह बोली, **``अब तो मेरे लिए जीना या मरना दोनों एक समान ही है ।''**

``परन्तु बात क्या है ? तूं ऐसा क्यों बोल रही हैं ?''

बेगम ने कहा, ``उस दुष्ट बिरबल ने मेरा कितना घोर अपमान कर दिया ? एक ओर तो मुझे अति आग्रह कर मान-सम्मान के साथ अपने घर ले गया और जैसी ही भोजन करके उठी, उसने मेरे लिए ऐसे अपमान जनक शब्द कहे कि अब तो मेरे लिए जीना व मरना एक हो गया ! ऐसी अपमानजनक बातें सुनकर जींदा रहना, इसके बजाय तो मर जाना अधिक बेहतर है ।''

बेगम की इस बात को सुनकर अकबर ने तुरंत ही बिरबल को बुलाया ।

थोडी ही देर में बिरबल हाजिर हो गया । अकबर ने कहा, **``अरे बिरबल तूं ने यह क्या कर डाला ? तुने हमारे महल में आग लगा दी ? तूंने बेगमसाहब का इतना घोर अपमान कर दिया ?''**

``नहीं ! जहांपनाह ! मैंने बेगमसाहब को कोई अपमान नहीं किया है । वे तो मेरे लिए आदर पात्र है ।''

``ते फिर तूंने बेगमसाहब के लिए इतने कटु शब्द क्यों कहे ?''

``जहांपनाह ! मैंने बेगमसाहब के अपमान के लिए वे शब्द नहीं कहे है । मैंने तो सिर्फ आपके सवाल का जवाब दिया है ।''

आपका सवाल था कि एक ही जीभ पर विष और अमृत दोनों का वास कैसे हो सकता है । **``मैंने यह सिद्ध करके बता दिया है ।''**

``आप पूछ लीजिए-बेगमसाहब को जब मैंने उनका बहुत ही आदरमान के साथ स्वागत किया था, तब वे क्या बोल रही थी ?''

उनका यही कहना था, **'बिरबल क्या बोलता है मानों उसकी जीभ में से अमृत बरस रहा है ।'**

``और जब मैंने उनके लिए दो कटु शब्द कहे, तो हि वे बोलने लगी, **``बिरबल की जीभ पर तो जहर है जहर !''**

अकबर, बिरबल की बात को स्पष्ट रुप से समझ गया। अकबर का समाधान हो गया ।

वाणी के दोष

अठारह पाप स्थानकों की ओर जरा नजर करेंगे तो पता चलेगा कि जीवन में अधिकांश पाप वाणी द्वारा होते है ।

(1) मृषावाद : वाणी द्वारा झूठ बोलने से मृषावाद का पाप लगता है।

(2) क्रोध : गुस्सा आने पर व्यक्ति कठोर शब्दों का प्रयोग किए बिना नहीं रहता हैं, अतः क्रोध का पाप भी वाणी द्वारा होता है ।

(3) मान : मनुष्य अपने अभिमान को वाणी द्वारा ही व्यक्त करता है । I am something **'मैं भी कुछ हूं ।'** की बात वाणी से ही निकलती है।

(4) राग : मन पसंद वस्तु मिलने पर राग पैदा होता है और उस राग की अभिव्यक्ति, **'यह बहुत अच्छी चीज है, यह मुझे खूब पसंद है ।'** इत्यादि राग पोषक भाषण वाणी द्वारा ही करता है ।

(5) द्वेष : किसी वस्तु या व्यक्ति के प्रति नापसंदगी का भाव मुख्यतया वाणी द्वारा ही अभिव्यक्त होता है । **'यह भोजन स्वादिष्ट नहीं है । उसे तो मार डालना चाहिये । उसको सजा हुई, वह अच्छा हुआ ।'** इत्यादि द्वेषजनक वचन, वाणी द्वारा ही निकलते है और इन वचनों द्वारा हम अपने द्वेष भाव को ही पुष्ट करते हैं ।

(6) कलह : जो मौन रहता है, उसे झगडने का प्रश्न ही नहीं रहता है । समस्त झगडों का मूल शब्द शक्ति का दुर्व्यय ही है । जिसकी जीभ पर लगाम नहीं हैं, उसे झगडा करते देर नहीं लगती है।

(7) अभ्याख्यान : अभ्याख्यान अर्थात् किसी को कलंक देना । यह भयंकर पाप भी मुख्यतया वाणी द्वारा होता है । अभ्याख्यान अर्थात् किसी निर्दोष व्यक्ति पर झूठा आरोप लगाकर उसे बदनाम करना । यह अत्यंत ही भयंकर कोटि का पाप है । इस पाप की सजा जीवात्मा को भुगतनी पडती है । सीता आदि ने पूर्व जन्म में अज्ञानता व मोह वश दूसरों पर कलंक चढाया था, उसी के फल स्वरुप उन्हें अपने जीवन में कलंकित होना पडा था ।

(8) पैशुन्य : पैशुन्य अर्थात् चाडी चुगली खाना । इधर की बात उधर करना । इस प्रकार की नारदवृत्ति का पाप भी मुख्यतया वाणी द्वारा होता है ।

(9) रति-अरति : अनुकूल वस्तु पर राग व प्रतिकुल वस्तु पर द्वेष अर्थात् रति-अरति का पाप मन वचन और काया तीनों द्वारा होता हैं, परन्तु उसकी अभिव्यक्ति हम वाणी द्वारा करते है ।

(10) पर परिवाद : पर परिवाद अर्थात् दूसरों की निंदा करना । निंदा करने की प्रवृत्ति वाणी द्वारा ही होती है । आत्म प्रशंसा व पर-निंदा एक भयंकर पाप हैं । जो हमारी साधना को मिट्टी में मिला देते हैं ।

निंदा करने से मिलता कुछ नहीं है, परन्तु अपनी साधना की समृद्धि को ही खोने का होता है । निंदक व्यक्ति कडी महेनत कर कमाए हुए आत्म धन को क्षणिक आनंद के लिए खो डालता है ।

निंदक व्यक्ति को सर्वत्र दोष ही दिखाई देते है । किसी के गुण देखने में वह अंध समान होता है और किसी के गुण बोलने में वह मूक ही होता है ।

(11) माया-मृषावाद : माया पूर्वक झूठ बोलने का पाप भी वाणी के द्वारा होता है ।

इस प्रकार विचार करने पर पता लगता है कि 18 में से लगभग 11-12 पापों की प्रवृत्ति मुख्यतया वाणी द्वारा होती है ।

मर्यादित बोले : ईन्सान को जरुरत लगे तभी बोलना चाहिये

और वह भी मर्यादित ही बोलना चाहिये । जितने कम शब्दों से चल सके, उतना ही बोलना चाहिये ।

गुड में मधुरता है, परन्तु इसका मतलब यही नहीं है कि अत्यधिक प्रमाण में गुड खा लेना चाहिये । गुड मीठा अवश्य है, परन्तु वह भी प्रमाणसर हो तो ही अच्छा लगता है । ज्यादा प्रमाण में खाने से तो वो ही गुड रोग का कारण बन जाता है । बस, इसी प्रकार जो व्यक्ति समझ पूर्वक अल्प प्रमाण में बोलता है, उसके वे शब्द खुब असरकारक होते हैं और जो बात बात में बोल-बोल करता रहता है, उसके शब्द निरर्थक ही सिद्ध होते हैं ।

मौन से शक्ति का संचय

बोल बोल करने से शक्ति का दुर्व्यय होता है जब कि मौन रहने से शक्ति का संचय होता है ।

झूठा आरोप न लगाए

दशवैकालिक सूत्र में भाषा संबंधी मर्यादाओं का वर्णन करते हुए कहा गया है कि किसी के दिल को ठेस पहुंचे इस प्रकार के कटु शब्द न बोले । अंधे को अंधा व काणे को काणा कहना उचित नहीं हैं, तो फिर निष्पाप जीवन जीनेवालों के ऊपर दोषारोपण करना, कितना भयंकर अपराध है ।

इतिहास के पृष्ट उस बात के साक्षी है जिन जिन आत्माओं ने अपने पूर्व भव में निर्दोष मुनि भगवंतों पर झूठा आरोप लगाया, उन-उन आत्माओं को कितने भयंकर कष्ट सहन करने पडे !

जरा नजर करे महासती सीता की ओर !

जिस सीता को पाने के लिए रामचन्द्रजी ने रावण के साथ इतना भयंकर युद्ध खेला । उसी सीता के अयोध्या प्रवेश के बाद जब वह गर्भवती बनी, प्रसूति का समय निकट आने लगा, उसी समय रामचन्द्रजी ने महासती सीता का बहिष्कार कर दिया ।

कारण ?

उस समय सीता के पाप कर्म का उदय आया था। और वह पाप था-गत भव में (वेगवती के भव में) सीता ने किसी निर्दोष व पवित्र महात्मा के ऊपर व्यभिचार का आरोप लगा दिया था। उस पाप के फल स्वरुप महासती सीता को सगर्भा अवस्था में भी महल छोडकर जंगल में जाना पडा था।

जरा नजर करे महासती ऋषिदत्ता पर ! उस महासती पर भी मानव-भक्षिणी का आरोप लगा था। उसका एक मात्र कारण गत भव में निर्दोष साध्वी के ऊपर मांस-भक्षिणी का आरोप लगाया था।

जरा नजर को श्रीपाल महाराजा की ओर ! उनको भी कोढ़ रोग हो गया था। इसका कारण था, गत भव में उन्होंने किसी निर्दोष महात्मा के ऊपर कोढी का आरोप लगाया था, जिसके फल स्वरुप उन्हें कोढरोग हुआ था।

किसी के ऊपर भूल से ही झूठा दोषारोपण न करें।

किसी निर्दोष व्यक्ति पर दोषारोपण करने से आपको कुछ मिलने वाला नहीं है, शायद कुछ क्षणों के लिए मानसिक आनंद मिल जाएगा, परन्तु वह पाप जब उदय में आएगा, तब कैसी भयंकर दुर्दशा होगी। उसका अवश्य ही विचार करना चाहिये।

किसी के ऊपर दोषारोपण करने से अगले भव में हमें भी कलंकित होना पडता है...अतः बोलने के पूर्व खूब सावधानी रखनी चाहिये।

8 मन को निर्मल बनाएँ

शौच अर्थात् शुद्धि। यह शुद्धि दो प्रकार की है। **(1) द्रव्य शुद्धि** और **(2) भाव शुद्धि।** द्रव्य शुद्धि अर्थात् शारीरिक शुद्धि। भाव शुद्धि अर्थात् चित्त के अध्यवसायों की शुद्धि।

जैन दर्शन में द्रव्य शुद्धि की अपेक्षा भाव-शौच (शुद्धि) का अत्यधिक महत्त्व है।

जिसका मन मैला और तन उजला है, वह व्यक्ति अपना आत्मकल्याण नहीं कर सकता है। आत्मकल्याण के लिए भावशौच धर्म का पालन अनिवार्य है।

इस धर्म के पालन हेतु ग्रहण किये महाव्रत व अणुव्रतों में अतिचार दोष न लगें, इसका पूरा ध्यान रखना चाहिए।

❀ भवदेव मुनि ने दीक्षा लेकर 12 वर्षों तक संयम का पालन किया, उसमें उनकी भाव शुद्धि नहीं थी क्योंकि मन में पत्नी नागिला का वास था, अतः वह संयम विशेष लाभ न करा सका।

भाव शुद्धि से ही आत्मशुद्धि सम्भव है, अतः उसकी प्राप्ति के लिए सदैव प्रयत्नशील रहना चाहिए।

शौच-अंतरंग शुद्धि

शौच अर्थात् शुद्धिकरण।

❀ बाहर की शुद्धि–शरीर की शुद्धि तो हमने बहुत की है और उसके लिए खूब जागृत रहे है, परंतु आवश्यकता है मन की शुद्धि की।

❀ **देह को शुद्ध किया है, परंतु उस देह में रहा मन तो खूब गंदा है।**

'योगसार' ग्रंथ में कहा है

'यदि मन को स्वच्छ नहीं किया तो तप-जप की सारी क्रियाएं भी निष्फल है।'

अतः मोक्षमार्ग की आराधना साधना में सबसे पहली आवश्यकता शौच अर्थात् मन शुद्धि की है।

योगशास्त्र के चौथे प्रकाश में भी लिखा हैं– **'मन शुद्धि के बिना जो मुक्ति के लिए उग्र तप करते है, वे नाव को छोडकर भुजाओं के बल से महासमुद्र को पार करना चाहते है ।'**

सामान्य नदी को तैर कर पार करना आसान है, परंतु विराट् महासागर को यदि पार करना है तो नाव या जहाज का आलंबन खूब जरुरी है ।

उसी प्रकार इस भवसागर को पार करना है तो उसे मन शुद्धि का आलंबन लेना खूब जरुरी है ।

काया व वस्त्र को शुद्ध या स्वच्छ करना आसान है परंतु मन को शुद्ध करना खूब कठिन है ।

पू. महोपाध्याय श्री यशोविजयजी म. भी **उपदेश रहस्य** में यही बात करते है कि **''जिन जिन क्रियाओं से मन में पैदा होनेवाले राग-द्वेष के भाव घटते हो, वे सभी क्रियाएं करने जैसी है और यही जिनेश्वर भगवंत की आज्ञा है ।''**

मोक्षमार्ग की आराधना-साधना में आशय शुद्धि के ऊपर खूब भार दिया गया है ।

बाहर से चाहे जितनी उत्कृष्ट आराधना व तप-जप आदि हो, परंतु जिसका आशय शुद्ध नहीं है तो उस तप-जप से भी प्रभावित होने जैसा नहीं है ।

शुद्धि के बिना सिद्धि नहीं

''दुनिया में कुछ पुरुष जन्म से महान् होते हैं...कुछ पुरुष प्रयत्न और पुरुषार्थ की साधना द्वारा महान् बनते हैं और कुछ व्यक्तियों पर महानता का झूठा आरोप किया जाता है ।''

जो महापुरुष जन्म से शुद्ध होते हैं, उनका जीवन अत्यन्त ही पवित्र व बेदाग होता है । उनके जीवन में किसी भी प्रकार की अशुद्धि नहीं होती है । उनका जीवन एकदम विशुद्ध होता है । दुनिया के अन्य लोग भी उनका सहर्ष आलम्बन लेते हैं । मुक्तिमार्ग के पथिकों के लिए उनका

आलम्बन सर्वश्रेष्ठ होता है। युगों-युगों तक उनको याद किया जाता है और उनका जीवन अनेक जीवों के लिए परम-आदर्श रूप बना होता है।

जिस प्रकार एक प्रज्वलित दीपक हजारों दीपकों को प्रज्वलित करता है, उसी प्रकार जन्मशुद्ध आत्माओं का जीवन, अनेक आत्माओं के जीवन को प्रज्वलित करता है।

सचमुच, आत्मकल्याण के लिए ऐसी आत्माओं को विशेष साधना की जरुरत नहीं रहती है-गृहस्थ जीवन में भी वे कमल की भाँति अत्यन्त अलिप्त और अनासक्त ही होती हैं।

उन आत्माओं के पूर्वजन्म का निरीक्षण करते हैं तब हमें उनकी विशिष्ट आराधना-साधना के दर्शन हुए बिना नहीं रहते हैं। पूर्वजन्म में उन आत्माओं की ऐसी विशिष्ट त्याग-तपोमय साधना के दर्शन होते हैं कि जिन्हें देखकर हमारा मस्तक सद्भाव से झुक जाता है।

जन्मशुद्ध आत्माओं के बाद दूसरे नम्बर पर वे आत्माएँ आती हैं, जो अपने जीवन के प्रारम्भिक काल में कुसंग आदि के कारण उन्मार्ग के जाल में फँस गई होती हैं, फलस्वरूप उनके जीवन में हिंसा, झूठ, चोरी, व्यभिचार, बलात्कार, जुआँ, मदिरापान, मांसाहार आदि के दुर्व्यसन घर कर गये होते हैं। इनके फलस्वरुप ऐसे व्यक्तियों का जीवन भावी अन्धकारमय बन गया होता है। कई बार तो ऐसे व्यक्तियों का बाह्य जीवन भी अत्यन्त दम्भपूर्ण बना होता है। समाज में अपनी प्रतिष्ठा बनाये रखने के लिए ऐसे व्यक्ति बाह्य धर्माचरण का भी लिबास पहन लेते हैं...और भीतर तो उन व्यक्तियों का जीवन अत्यन्त ही पापमय होता है।

इस दृष्टि से हम उन पापी आत्माओं को भी दो भागों में विभाजित कर सकते हैं-

1) जिनका मन भी मैला है और तन भी मैला है अर्थात् जो भीतर से भी पापी हैं और बाहर से भी पापी हैं।

2) जो अपनी प्रतिष्ठा-इज्जत को बनाये रखने के लिए बाहर से तो धर्मी होने का दिखावा करते हैं, परन्तु गुप्त रूप से अनेक प्रकार की पापलीलाएँ करते रहते हैं।

दम्भ अत्यन्त खतरनाक वस्तु है । जो व्यक्ति पापी है किन्तु सरल है, उस आत्मा का उद्धार हो सकता है, परन्तु दम्भी व्यक्ति का कभी उद्धार नहीं हो सकता है । दम्भी व्यक्ति दिखावे के लिए बाह्य आचरण करता है, उसका बाह्य धर्माचरण भी उसकी पापलीलाओं को छिपाने का ही एक साधन होता है-ऐसी आत्माएँ जो वास्तव में धर्मी नहीं हैं किन्तु धर्मी बनने का दिखावा करती हैं उन आत्माओं का उद्धार कदापि सम्भव नहीं है ।

पूर्वधर गीतार्थ महापुरुषों का कथन है-**``पाप से भी पाप का पक्षपात अत्यन्त भयंकर है ।''**

पापी आत्माओं का उद्धार सम्भव है किन्तु जिन आत्माओं में पाप का तीव्र पक्षपात रहा हुआ हैं, उन आत्माओं का उद्धार सम्भव नहीं है । पाप हो जाने मात्र से आत्मा को इतना अधिक नुकसान नहीं होता है, जितना पाप के प्रति रहे तीव्र पक्षपात-भाव के कारण होता है ।

जीवन में पूर्णतया पाप का त्याग यदि सम्भव न हो तो भी पाप का पक्षपात तो कभी नहीं होना चाहिए ।

पाप का त्याग पाँचवें और छठे गुणस्थानक में होता है जबकि पाप के प्रति पूर्ण तिरस्कार भाव तो चौथे गुणस्थानक में ही आ जाता है । जीवन में पापत्याग के लिए चित्त-शुद्धि अनिवार्य है ।

शरीर की पुष्टि के लिए रसायन का सेवन करना हो तो सर्वप्रथम आँतों में रहे मल की शुद्धि करना अनिवार्य हो जाता है ।

चित्रकार दीवार पर चित्र बनाने के पूर्व उसको शुद्ध करता है ।

किसान भूमि में बीज बोने के पूर्व उस भूमि को अच्छी तरह से शुद्ध करता है; उसी प्रकार अपने जीवन को पवित्र व सदाचारमय बनाने के लिए चित्त की शुद्धि खूब जरुरी है ।

चित्त की शुद्धि किये बिना केवल बाह्य सद्‌आचरणों को जीवन में अपनाया जाय तो वे बाह्य आचरण दम्भ का रुप ले लेते हैं ।

बाह्य सद्-आचरण वाला व्यक्ति बाह्य दृष्टि से तो अच्छा

दिखाई देता है, परन्तु उसके चित्त की मलिनता किसी की नजर में नहीं आती है-फलस्वरूप उसका जीवन दम्भपूर्ण होता है ।

जिसका चित्त शल्यरहित बना हुआ है, ऐसे ही व्यक्ति की शुद्धि हो सकती है और शुद्ध चित्त वाला व्यक्ति ही सिद्धिपद प्राप्त कर सकता है ।

महोपाध्याय श्रीमद् यशोविजयजी म.सा. ने **'अध्यात्मसार'** के **'मन:शुद्धि अधिकार'** में बहुत ही सुन्दर बातें कही हैं-

''मल की शुद्धि के बिना रोगी को रसायन पुष्टिकारक नहीं बनता है, अत: शुभ उचित आचरण के इच्छुक व्यक्ति को सर्वप्रथम मन की शुद्धि करनी चाहिए ।''

सारी दुनिया चन्द्रमा पर राग करती है-परन्तु विरहीजन को चन्द्र का उदय पीड़ाकारी होने से वे लोग चन्द्र से द्वेष करते हैं, परन्तु इतने मात्र से चन्द्र में कोई विकृति पैदा नहीं होती है, इसी प्रकार निर्मल चित्त वाले व्यक्ति पर कोई राग करे या द्वेष करे-इतने मात्र से उस पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है ।

मन की चंचलता के कारण ही प्रियवस्तु के वियोग में शोक और उसी वस्तु के संयोग में आनन्द का अनुभव होता है ।

वास्तव में, किसी वस्तु की सुन्दरता हमें सुख-दु:ख नहीं देती है, परन्तु उस वस्तु के प्रति अपने मन में रही हुई सुन्दरता-असुन्दरता की कल्पना ही हमें सुखी व दु:खी करती है ।

सचमुच, हमारे सुख-दु:ख में वस्तु नहीं किन्तु हमारा मन ही कारण बनता है ।

❀ मन बन्दर की भाँति अत्यन्त ही चपल है अत: सावधान न रहें तो चारित्र-योग रूपी घड़ों में इकट्ठे किये हुए शम रस को वह कहीं भी ढोल देता है ।

❀ मन घोड़े की भाँति है, यदि उस पर लगाम न हो तो वह जहाँ-तहाँ भटक कर सवार को कहीं गिरा देता है ।

❀ मन पवन की भाँति अत्यन्त ही वेगवान है । सावधानी न

रखी जाय तो जिनवचन रूपी कर्पूर को कहीं उड़ा ले जाता है और काम रुपी अग्नि को भड़का देता है ।

यह मन उस पागल हाथी की भाँति है जो चारित्र रूपी किले के दरवाजे को तोड़ने के लिए और शास्त्रबोध रूपी वृक्षों को जड़मूल से उखाड़ने के लिए कटिबद्ध बना हुआ है ।

साधक व्यक्ति बड़ी महेनत करके व्रत रूपी वृक्षों का सिंचन करने हेतु सद्गुण रूपी उपवन को तैयार करता है, परन्तु यह मन रूपी अग्नि अशुभ चिन्तन द्वारा क्षणभर में ही उस उपवन को जलाकर खाक कर देती है ।

काया और वाणी से कितनी ही शुभ क्रियाएँ की जायें, परन्तु यदि मन का निग्रह न किया जाय तो यह मन, आत्मा को भव रूपी जंगल में कहीं भटका देता है ।

मनोनिग्रह के अभाव में तन्दुलिक-मत्स्य मरकर सातवीं नरकभूमि में चला जाता है । अहो ! बिना भोजन किये यह कैसा अजीर्ण है ?

चंचल मन वाला व्यक्ति, बाहर से नेत्र, वाणी व हाथ आदि का यतनापूर्वक दाम्भिक प्रयोग कर अपने आपको तो ठगता ही है, इसके साथ ही वह दुनिया को भी ठगता रहता है ।

मुमुक्षु आत्मा को सर्वप्रथम अपने मन की शुद्धि करनी चाहिए । मोक्ष पुरुषार्थ के लिए तत्पर बने हुए मुनि के लिए मन की शुद्धि तो शिवसुन्दरी को वशीभूत करने के लिए औषधरहित वशीकरण है ।

यह चित्तशुद्धि जिनप्रवचन रूपी कमल को विकसित करने के लिए सूर्यप्रभा के समान है । प्रशमरस रूपी जल की तरंगों से भरी हुई नदी के समान है । अत्यन्त दु:खदायी मद रूपी ज्वर को नाश करने के लिए श्रेष्ठ औषध समान है । यह चित्तशुद्धि अनुभव रूपी अमृत का कुण्ड है । महाव्रतरूपी हंसों को क्रीड़ा करने के लिए सरोवर समान है और सकलकर्म-मल का नाश करने वाली है ।

इस चित्तशुद्धि को पाने के लिए सर्वप्रथम व्यवहारनय के मार्ग

में रहकर शुभ विकल्प रूपी व्रतों की उपासना द्वारा अशुभ विकल्पों को दूर करने का प्रयत्न करना चाहिए ।

शुभ विकल्प के सेवन द्वारा मन के अशुभ विकल्पों को दूर करने की प्रवृत्ति भी गुणकारी है ।

मन को अशुभ विषयों से निवृत्त कर उसे जिन-प्रतिमा अथवा आत्मसम्बद्ध पद आदि में स्थापित करना, उसे शुभ आलम्बन कहते हैं ।

इन सब बातों से यह स्पष्ट हो जाता है कि चित्तशुद्धि के बिना आत्मकल्याण के मार्ग पर आगे कदम बढ़ाया नहीं जा सकता है ।

चित्तशुद्धि के लिए आवश्यकता है-

1) भूतकाल में हुए पापों के प्रति पश्चाताप भाव की ।

2) वर्तमान काल में हो रहे पापों के द्वार को बन्द करने की तथा

3) भविष्य में पाप का आचरण न हो, इसके लिए पापत्याग की प्रतिज्ञा करने की ।

भूल हो जाना मानव-स्वभाव है, परन्तु उस भूल का स्वीकार दैविक गुण है ।

जब तक शरीर में रोग (शल्य) है तब तक चित्त की प्रसन्नता प्राप्त नहीं की जा सकती है उसी प्रकार जब तक भूतकाल में हो गई भूलों का शल्योद्धार नहीं किया जाय तब तक आत्म-शुद्धि सम्भव नहीं है ।

योग्य सद्गुरु का योग न मिले तो देवाधिदेव वीतराग परमात्मा की प्रतिमा के आगे भी अपने द्वारा भूतकाल में हुए पापों की आलोचना-निन्दा व गर्हा कर सकते हैं ।

पाप को स्वीकार करने से पाप की शक्ति घट जाती है...और भविष्य में भी उस पाप से बचने के लिए सावधान बना जा सकता है । जो व्यक्ति भूतकाल में हुए अपने पापों को स्वीकार ही नहीं करता है, ऐसा व्यक्ति कभी शुद्ध नहीं हो सकता है ।

सद्गुरु अथवा परमात्मा के चरणों में अपने पापों का स्वीकार

कर लेने से अपना चित्त एकदम हल्का हो जाता है ।

जिस प्रकार मलिन वस्त्र को पानी व साबुन से साफ किया जा सकता है, उसी प्रकार आलोचना व प्रायश्चित्त द्वारा अपने पापों की शुद्धि की जा सकती है ।

पाप करना जितना भयंकर नहीं है, उससे भी पाप को स्वीकार नहीं करना अत्यन्त भयंकर है । जिस प्रकार मलिन स्वर्ण भी अग्नि के सम्पर्क से शुद्ध हो जाता है, उसी प्रकार आलोचना व प्रायश्चित्त से अशुद्ध आत्मा भी शुद्ध हो जाती है ।

अपनी भूलों को स्वीकार करने वाली भयंकर से भयंकर पापी-अधम आत्माओं का भी उद्धार हो गया और अपने पापों को छुपाकर दाम्भिक जीवन जीने वाली त्यागी व तपस्वी आत्माओं का भी उद्धार नहीं हुआ है ।

अपनी भूलों का स्वीकार अपनी इच्छा से ही करने का है ।

सर्वज्ञ परमात्मा तो अपने सभी पापों को जानते ही हैं, परन्तु जब तक हम अपनी इच्छा से उन पापों का स्वीकार नहीं करते हैं, तब तक वे भी हमें किसी भी प्रकार का प्रायश्चित्त नहीं देते हैं ।

कई बार व्यक्ति जन्म-जन्मान्तर के कुसंस्कारों के कारण पापाचरण में स्वतः प्रवृत्त हो जाता है और कई बार कुमित्रों की संगति आदि के कारण भी वह उन्मार्गगामी बन जाता है ।

मन को वश करने के उपाय :–

स्त्री के सुंदर रुप आदि बाह्य निमित्तों को पाकर मन में काम वासना का ज्वर पैदा होता है, उसे रोकने के लिए वाचकवर्य उमास्वातिजी म. ने **'प्रशमरति ग्रंथ'** में दो दृष्टांत बताए हैं–

'पैशाचिकमाख्यानं श्रुत्वा गोपायनं च कुलवध्वाः ।
संयम यौगौरात्मा निरन्तरं व्यापृतः कार्यः ।।'

पिशाच

–एक सेठ ने मंत्र साधना कर किसी पिशाच (व्यंतर देव) को अपने वश कर लिया ।

व्यंतर ने कहा, **'तुम मुझे सतत काम बताना यदि तुम मुझे कुछ भी काम नहीं बताओगे तो मैं तुझे खा जाऊंगा ।'**

सेठ ने व्यंतर की शर्त स्वीकार की ।

उसके बाद सेठ एक के बाद एक कार्य व्यंतर को बताने लगा । वह व्यंतर चुटकी मात्र में सेठ का हर काम करने लगा ।

कुछ ही समय बाद सेठ की यह स्थिति हो गई कि अब सेठ के पास कुछ भी काम बाकी नहीं रहा ।

सेठ सोचने लगा, **'अब मेरा क्या होगा ? अब तो मेरे पास कुछ भी काम बाकी नहीं रहा है ।'**

सेठ ने अपने एक मित्र से सलाह ली । मित्र बडा होशियार था । उसे एक उपाय सुझ आया । उसने सेठ को कहा, **'तुम्हारी समस्या का समाधान मैं कर दूंगा ।'**

दूसरे दिन मित्र की सलाह से सेठ ने व्यंतर को कहा, **'तुम मेरे घर के बाहर एक स्तंभ गाड दो ।'**

सेठ के कहने के साथ ही व्यंतर ने सेठ के घर के बाहर एक स्तंभ गाड दिया ।

फिर मित्र की सलाह से सेठ ने व्यंतर को कहा, **'जब तक मैं तुम्हें दूसरा काम नहीं बताऊं, तब तक तुम्हें ऊपर से नीचे उतरना है और नीचे से ऊपर चढना है ।'**

सेठ के इस कार्य को सुनकर व्यंतर स्तंभ के ऊपर-नीचे चढने-उतरने लगा, परंतु एक ही दिन में वह कंटाल गया ।

आखिर हताश होकर व्यंतर ने कहा, **'बस, अब यह काम रहने दो अब जब भी तुम्हें कोई अनिवार्य काम हो, मुझे याद करना ।'**

सेठ की समस्या का समाधान हो गया ।

पुत्र-वधु

एक सेठ की पुत्रवधु लग्न के दूसरे ही वर्ष विधवा हो गई ।

पुत्रवधु के दु:ख का पार न रहा ।

पुत्रवधु की दर्दभरी स्थिति को देखकर परिवारजनों ने पुत्रवधु को सभी प्रकार के कार्यभार से मुक्त कर दी और हर प्रकार की सुख-सुविधाएं दे दी ।

परंतु ऐसा करने से पुत्रवधु की स्थिति और खराब हो गई ।

कुछ भी काम-धंधा नहीं होने से वह अब झरोखे में बैठकर आने-जानेवाले लोगों पर दृष्टिपात करने लगी । नवयुवकों के रुप-सौंदर्य को निहारने लगी ।

घर की मुख्य दासी ने विधवा बनी पुत्रवधु की यह स्थिति देखकर श्वसुर को सब बात की ।

श्वसुर ने अवसर देखकर घर की सारी जवाबदारी उस पुत्रवधु के कंधों पर डाल दी ।

अब पुत्रवधु दिन भर कार्य में व्यस्त हो गई ! कार्य के अतिभार के कारण शाम को वह थककर चूर-चूर हो जाती, जिसके फलस्वरुप वह रात्रि में जल्दी निद्राधीन हो जाती थी । काम की व्यस्तता के कारण वह कामवासना के जाल में से सर्वथा मुक्त हो गई !

ठीक ही कहा है **'काम का औषध काम है ।'** कामवासना के जाल में से मुक्त बनने के लिए मन को निरंतर व्यस्त देखना जरुरी है ।

जो साधु संयम के विविध योगों में निरंतर व्यस्त रहता हैं, वह काम वासना से अवश्य बच जाता है ।

सबसे श्रेष्ठ साधना-मनोजय

जीवन में दान, शील, तप, त्याग, ज्ञान, ध्यान, पूजा-भक्ति आदि की आराधना हो परंतु जिसने मन को नहीं जीता तो सब बेकार है और जिसने मन को वश में कर लिया, उसने करने योग्य सब कर लिया ।

मन को जीतना ही सबसे बड़ी साधना है ।

आत्मा के संसार परिभ्रमण का मुख्य कारण यह मन ही है ।

यह मन ही आत्मा को नरक व तिर्यंच गति के गर्त में डुबोता है ।

जिसका मन संकल्प-विकल्प के जालों से ग्रस्त है, ऐसा व्यक्ति चाहे जितना तप-जप आदि करे तो भी वह सफल नहीं हो पाता है ।

बाहर से चाहे जितनी समृद्धि, वैभव, ठाट-बाट और महोत्सव चल रहा हो परंतु जिसका मन संकल्प-विकल्पों के जाल में फँसा हुआ होता है, उसे थोड़ी भी शांति कहाँ से हो ?

खाने-पीने की चाहे जितनी सामग्री क्यों न हो परंतु जिसका मन संकल्प-विकल्पों में डूबा हुआ है, उसे चक्रवर्ती का दिव्य भोजन भी आनंद नहीं दे सकता है ।

भवसागर से पार उतरने के लिए नौका समान मानवभव और जैनशासन की प्राप्ति हो जाने पर भी मन रुपी पिशाच (राक्षस) के वशीभूत बना व्यक्ति सब कुछ हार जाता है ।

यह मन रूपी राक्षस सभी साधनाओं को मूल्यहीन बना देता है, अतः समझदारी इसी में है कि किसी भी उपाय से इस मन रूपी पिशाच को वश में रखा जाय !

कलिकालसर्वज्ञ आचार्य हेमचन्द्रसूरिजी ने **'योगशास्त्र'** ग्रंथ में मन-शुद्धि की महिमा और मन-शुद्धि के उपायों का बहुत ही सुंदर निरुपण किया है ।

वे कहते हैं कि बुद्धिशाली व्यक्ति को मन की शुद्धि के साथ इन्द्रियजय के लिए योग्य प्रयत्न करना चाहिए । उसके बिना यम-नियम का पालन भी कायकष्ट है ।

कठोरतम महाव्रतों का पालन करों या कठोरतम तपः साधना करो परंतु मन की शुद्धि नहीं है तो वह सारा प्रयत्न निष्फल ही जाने वाला है ।

इन्द्रियों पर विजय प्राप्त कर आत्मा मोक्ष प्राप्त कर सकती है, परंतु इन्द्रिय-जय के लिए सर्वप्रथम मन पर विजय प्राप्त करना खूब जरूरी है ।

मन पर विजय प्राप्त किए बिना चाहे जितनी आराधना-साधना व तपश्चर्या करें, परंतु वह सब बेकार है ।

इन्द्रिय-जय का असाधारण कारण मन की शुद्धि है ।

मन को निर्मल किए बिना यम-नियम की साधना भी निरर्थक है ।

निरंकुश मन राक्षस की भाँति हैं, जो अपनी आत्मा को संसार के गर्त में कहीं भी डुबो देता है ।

विशिष्ट आकार में परिणत मनोवर्गणा के पुद्‌गल, द्रव्य मन है और मन में उठनेवाले संकल्प रूप आत्म-परिणाम, वह भाव मन है ।

आत्म स्वरुप के चिंतन से बाहर निकला हुआ मन राक्षस की भाँति है, जिसका काम अशुभ विषयों में प्रवृत्ति कराना है । स्वरूप-रमणता की भावना से बाहर निकला हुआ मन निरंकुश होकर, आत्मा को संसार रूपी आवर्त्त में ऐसे गिरा देता है कि फिर उसे बाहर निकलना भी कठिन हो जाता है ।

इस निरंकुश मन ने सभी आत्माओं को संसार के गर्त में गिराया है ।

मुक्ति की अभिलाषी बनी आत्माओं को भी यह चंचल मन आँधी की तरह कहीं फेंक देता है ।

मन का निरोध किए बिना जो मुक्ति की अभिलाषा रखता है, वह तो पंगु व्यक्ति की जंगल को पार करने की इच्छा के समान है ।

अतः मुक्ति के अभिलाषी व्यक्ति को सर्वप्रथम चंचल मन को वश में रखने का प्रयत्न करना चाहिए ।

जीवन में यम-नियम की साधना कम होगी तो चलेगा, परंतु मन-शुद्धि के बिना बिल्कुल नहीं चलेगा ।

मन-शुद्धि के बिना जो तप करके मुक्ति पाने की इच्छा करते हैं, वे नाव बिना महासागर को पार करने की इच्छा कर रहे हैं ।

अतः मुक्ति के इच्छुक को सदैव मन-शुद्धि के लिए सुयोग्य प्रयत्न करना चाहिए ।

मन बंदर की तरह चंचल है

'मनः कपिरयं विश्व-परिभ्रमण-लम्पटः ।'

'योगशास्त्र' ग्रंथ में कलिकालसर्वज्ञ हेमचंद्राचार्यजी ने मन को बंदर की उपमा दी है ।

बंदर को आपने देखा ही होगा ?

बंदर की सबसे बड़ी कमजोरी है कि वह खूब चंचल होता है ।

किसी स्थान पर वह स्थिर होकर बैठ नहीं सकता है, वह इधर- उधर भागता रहता है ।

परंतु जब उसी बंदर को मदारी पट्टे से बाँध देता है, तब उस बंदर का भागना बंद हो जाता है ।

जितनी लंबी डोरी होती है, उसी के इर्द-गिर्द घूमता रहता है ।

बस, बंदर की तरह चंचल मन को वश में रखने का एक ही उपाय है-उसे सूत्र रूपी डोरी से बाँध देना चाहिए ।

स्वाध्याय के द्वारा चंचल ऐसे मन को भी वश किया जा सकता है ।

चंचल मन को वश में करने के लिए ही श्रमणजीवन में चार प्रहर तक स्वाध्याय का विधान किया गया है ।

स्वाध्याय से मन को बाँधा जा सकता है अर्थात् जिसका मन स्वाध्याय में लग जाता है, वह मन आर्त्तध्यान व रौद्रध्यान से बच जाता है ।

मन सूअर है

अनाद्यभ्यासयोगेन, विषयाशुचि कर्दमे ।
गर्ते शूकर संकाशं, याति मे चटुलं मनः ।।

'उपमिति भव प्रपंचाकार सिद्धर्षि गणी ने प्रभु से प्रार्थना करते हुए कहा है–

'हे प्रभो !'

मेरा मन सूअर जैसा है । सूअर के सामने एक ओर पांच पक्वान्न या दूध पाक रखा जाय और दूसरी ओर विष्टा पड़ी हो तो वह सूअर पाँच पक्वान्न को छोडकर विष्टा की ओर ही आगे बढ़ता है ।

विष्ठा के आगे उसे पाँच पक्वान्न भी अच्छे नहीं लगते हैं, फीके लगते हैं, कसहीन लगते हैं ।

वे कहते हैं—'मेरा मन भी सूअर जैसा है ।'

एक ओर मंदिर में सर्व गुणसंपन्न और सर्वदोषों से मुक्त प्रभु के दर्शन कर रहा होऊँ और उसी समय मल-मूत्र से भरी हुई और बाहर से गोरी चमड़ीवाली स्त्री का आगमन हो जाता है, ऐसे समय में मेरा मन प्रभु को छोड़कर भी उस स्त्री पर आकर्षित हो जाता है ।

स्त्री का देह अर्थात् जिसके भीतर अमाप गंदगी और अशुचि से भरे पदार्थ रहे हुए हैं । फिर भी उस मन को उसका आकर्षण हो जाता है, सचमायने में मेरा मन सुअर की भांति है ।

मन पवन की तरह भागता रहता है

'चञ्चलं हि मनः कृष्ण ! प्रमाथि बलवत् दृढम् ।
तस्याहं निग्रहं मन्ये, वायोरिव सुदुष्करम् ।।'

भागवत्-गीता में मन का X-ray लिया है । श्री अर्जुन कृष्ण को पूछते हैं-'हे कृष्ण ! मेरा मन पवन की भांति खूब चंचल है । पवन कहीं स्थिर नहीं रहता है, वह सतत भागता रहता है ।

बस, इसी प्रकार यह मन भी वायु की तरह सतत भागता रहता है । उसे बाँधने की पूरी-पूरी कोशिश करता हूँ, परंतु यह वश में आता ही नहीं है ।

चंचल ऐसे मन को वश में करने का उपाय पूछने पर श्रीकृष्ण कहते हैं कि वायु की तरह चंचल ऐसे मन को भी अभ्यास और वैराग्य द्वारा वश में किया जा सकता है ।

वैराग्य भावनाओं से मन को भावित किया जाय तो चंचल ऐसे मन को वशीभूत किया जा सकता है ।

मन पानी जैसा है

पानी का अपना कोई रंग नहीं, आकार नहीं । पानी में लाल रंग

डालो, पानी लाल हो जाएगा। इतना ही नहीं, पानी में जो रंग डालोगे पानी उस रंग में बदल जाएगा।

बस,

अपना मन भी पानी जैसा है। उसे जैसा शुभ या अशुभ निमित्त मिलेगा, वह उस रूप में बदल जाएगा।

पानी का अपना कोई आकार नहीं ! उसे गिलास में डालो, वह गिलास के आकार में बदल जाएगा। उसे बाल्टी में डालो, वह बाल्टी के आकार में बदल जाएगा।

मन को भी जैसा आलंबन मिलेगा, वह उस आकार में बदल जाएगा।

अतः मन को बचाना है तो उसे अशुभ-निमित्तों से सदैव दूर रखें।

मन बालक है

चित्त बालक ! मा त्याक्षीरजस्त्रं भावनौषधीः।
यत्त्वां दुर्ध्यानभूता छलयन्ति छलान्विषः॥

'अध्यात्म-कल्पद्रुम' ग्रंथ में **आचार्य श्री मुनिसुदरसूरिजी म.** ने मन को एक बालक की उपमा दी है।

बालक की सुरक्षा माँ की गोद में रही हुई है। बालक यदि माँ को छोड़ देता है, तो वह असुरक्षित हो जाता है। कोई भी हिंसक प्राणी उस पर हमला कर सकता है।

बस, इसी प्रकार मनरूपी बालक के रक्षण के लिए भावना रूपी औषधि है। यदि वह भावना रूपी औषधि का सतत सेवन करता रहता है तो वह पूर्णरूप से सुरक्षित रहता है।

भावना रूपी औषधि को छोड़ दिया तो उसे मरना ही है।

शुभ भावनाओं से यदि मन को नहीं बाँधा जाय तो अशुभ भावना रूपी राक्षस मन का भक्षण किए बिना नहीं रहते हैं।

चित्त अंतरंग धन है

चित्तरत्नमसंक्लिष्ट-मान्तरं धनमुच्यते ।।

1444 ग्रंथों के प्रणेता पूज्य हरिभद्रसूरिजी म. ने संक्लेश रहित चित्त को रत्न की उपमा दी है ।

जिसके पास रत्न है, वह समृद्ध कहलाता है और जिसके इस रत्न की चोरी हो गई, उसके नुकसान का कोई पार नहीं है ।

मन अग्नि है

अग्नि का यह स्वभाव है कि उसे ज्यों-ज्यों खुराक मिलती जाती है, त्यों-त्यों उसकी वृद्धि होती जाती है और अग्नि को खुराक मिलना बंद हो जाय तो वह शांत हो जाती है ।

अग्नि को सर्वभक्षी कहा है । अग्नि में कुछ भी डालो वह उसे स्वाहा कर देगी । बहुत कुछ खाने के बाद भी वह सदैव अतृप्त ही रहती है ।

मानव-मन कभी भी विषयों की प्राप्ति से तृप्त नहीं होता है ।

चाहे जितनी भोग-सामग्री मिली हो, वह सदैव अतृप्त ही रहता है ।

एक राजा का नियम था कि उसके द्वार पर आए याचक को वह मुँह-माँगा दान करता था ।

एक बार किसी संत का आगमन हुआ । राजा ने पूछा, `आपको क्या चाहिये ?'

संत ने कहा, **`मेरे इस पात्र को सोना-मोहर से भर दीजिए ।'**

राजा ने तुरंत ही खजांची को आदेश दिया, **`थाल भरकर सोना मोहर ले आओ ।'**

खजांची थाल भरकर सोनामोहर ले आया । उसने वे सारी सोनामोहरें संत के पात्र में डाल दी ।

परंतु आश्चर्य ! संत का एक छोटा सा पात्र था,परंतु वह सोनामोहर से भरने के बजाय खाली ही रहा ।

अभी तक तो उसका पैंदा ही नहीं भर पाया था ।

राजा की आज्ञा से खजांची दूसरी बार सोना मोहरों से भरा थाल लेकर आया, परंतु आश्चर्य !

पात्र में डालते ही वे सोना मोहरें पता नहीं, कहाँ गायब हो गईं !

उस पात्र का पैंदा ही नहीं भर पाया था ।

आखिर राजा ने पूछ ही लिया, **'आपका यह पात्र किससे बना हैं ?'**

संत ने कहा, **''मानव की खोपड़ी (मन) से बना यह पात्र है ।''**

मानव मन की सबसे बड़ी कमजोरी है, उसे कितना ही दो, वह सदैव अतृप्त ही रहता है-सदैव भूखा रहता है ।

भूतकाल में देव-मानव के भव में अनंत बार सांसारिक भौतिक, पदार्थों का उपभोग किया है, परंतु यह मानव भव अग्नि की भाँति सर्वभक्षी और सदैव अतृप्त ही रहा है ।

मानव-मन इच्छा पूर्ति से नहीं, इच्छा-मुक्ति से ही तृप्त हो सकता है ।

ईंधन से आग कभी तृप्त नहीं होती है, आग को शांत करने का एक ही उपाय है-जल का छंटकाव करो ।

जल का छिड़कांव अर्थात् ज्ञान-ध्यान व स्वाध्याय की साधना ।

भूल से भी प्रभु से **'इच्छापूर्ति'** की प्रार्थना मत करना ।

प्रार्थना करनी ही पड़े तो प्रभु से **'इच्छा-मुक्ति'** की प्रार्थना करना । Desire to be desireless.

मन सीढ़ी Lift है

किसी बिल्डिंग की किसी भी मंजिल पर पहुँचना हो तो सीढी की आवश्यकता रहती है ।

सीढ़ियों के बिना ऊपर पहुँचा नहीं जाता है । उसी प्रकार मन भी सीढ़ी जैसा है ।

मन के माध्यम से हम अपनी आत्मा को ऊपर उठा सकते हैं ।

किसी गर्भगृह में या कुएं में उतरना हो तो उसका भी माध्यम सीढ़ी है ।

आत्मा का पतन भी मन के माध्यम से होता है ।

सीढ़ी से दोनों काम होते हैं, उतार और चढ़ाव । मन से भी दोनों काम होते हैं-पतन और उत्थान !

शुभ भावनाओं से भावित मन आत्मा को ऊपर उठाता है और अशुभ भावनाओं से भावित मन आत्मा को नीचे गिराता है ।

आज बड़ी-बड़ी बिल्डिंगों में ऊपर चढ़ने-उतरने के लिए Lift की व्यवस्था होती है । Lift से व्यक्ति ऊपर भी चढ़ सकता है और नीचे भी उतर सकता है ।

आत्मा मन के माध्यम से ऊपर उठती है । मन बिना आत्मा की प्रगति नहीं है ।

मुक्ति के लिए मन खूब जरुरी है । असंज्ञी आत्मा का उत्थान नहीं होता है ।

मन की सर्वोच्च साधना तीर्थंकर नाम कर्म का बंध

जगत् के समस्त जीवों के परम कल्याण की कामना के बल से ही आत्मा तीर्थंकर नाम कर्म निकाचित करती है ।

काया से चाहे जितना उग्र तप करे, आत्मा तीर्थंकर नाम कर्म का बंध करेगी ही, ऐसी कोई गारंटी नहीं है, परंतु मन में सर्वोच्च भावना के बल से आत्मा तीर्थंकर नाम कर्म का बंध कर सकती है ।

जगत् के जीव मात्र का हित चाहने से जगत् के सब जीवों का हित हो ही जाता हैं, ऐसा नहीं है, परंतु जगत् के सर्व जीवों का हित चाहनेवाले का तो अवश्य हित हो जाता है ।

आज तक भूतकाल में अनंत तीर्थंकरों ने जगत् के जीव मात्र के कल्याण की कामना की, परिणामस्वरूप जगत् के सभी जीवों का तो भला नहीं हुआ, परंतु भला चाहनेवाले का तो भला अवश्य हुआ है, अतः भला चाहने में तो एकांत लाभ है ।

काया से हिंसा आदि पाप प्रवृत्ति करने से सामनेवाले को भी अवश्य पीड़ा होती है ।

वचन से हिंसा आदि पाप प्रवृत्ति करने पर सामनेवाले को पीड़ा होती भी है और नहीं भी होती है ।

परंतु मन से हिंसा आदि पाप प्रवृत्ति करने पर सामनेवाले को लेश भी पीड़ा नहीं होती है ।

परंतु अहित चाहनेवाले का तो अहित अवश्य हो जाता है ।

मन से शुभ-अशुभ प्रवृत्ति करने में मन को थोड़ा भी कष्ट नहीं होता हैं परंतु पुण्य-पाप का बंध सबसे अधिक होता है ।

वचन व काया से होनेवाली शुभ-अशुभ प्रवृत्ति का लाभ व नुकसान कम होता हैं, जबकि मन में होनेवाले शुभ-अशुभ विचारों का फल सबसे अधिक होता है ।

मन के दो प्रकार

(1) द्रव्य मन :– यह मन मनोवर्गणा के पुद्गलों से बना होता है ।

यह मन संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों को होता है । इसी मन से संज्ञी प्राणी स्पष्ट रूप से विचार कर सकता है ।

द्रव्य मन के बल से ही मन में अनेक प्रकार के संकल्प-विकल्प पैदा होते हैं ।

(2) भाव मन :– यह आत्मा के उपयोग स्वरूप है यह मन सभी जीवों के होता है ।

एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक सभी जीव इस भाव मन के आधार पर ही कर्म का बंध करते हैं ।

आत्मा जब वीतराग अवस्था प्राप्त करती है, तब निर्विकल्प शुद्ध उपयोग में रहती है । शुद्ध उपयोग में आत्मा कर्म का बंध नहींवत् करती है ।

द्रव्य मन के माध्यम से आत्मा जो शुभ-अशुभ उपयोग में रहती है, उसी के फलस्वरूप आत्मा पुण्य-पाप का बंध करती है ।

शुभ उपयोग से पुण्य और अशुभ उपयोग से पाप कर्म का बंध करती है। मुक्ति की अभिलाषी आत्मा को मनशुद्धि अवश्य करनी चाहिए।

मनशुद्धि के अभाव में अन्य तप-त्याग आदि की साधना भी निरर्थक है।

मन को शुद्ध करना हो तो मन को अशुभ भावों से बचाना चाहिए।

मन में पैदा होनेवाले अशुभ भावों से मन को बचाना हो तो अशुभ निमित्तो से बचना चाहिए।

सामान्यतया मन का स्वभाव दर्पण की भाँति है। दर्पण के सामने जो भी दृश्य आता है, वह उसे ग्रहण कर लेता है। मन का भी यह विचित्र स्वभाव है।

अशुभ निमित्त मिलते ही मन अशुभ विचारों से भावित हो जाता है और शुभ निमित्त मिलने पर शुभ भावों से भावित हो जाता है।

9 अंतरंग गांठें छोडे

साधु का एक पर्यायवाची शब्द हैं, निर्ग्रंथ । निर्ग्रंथ अर्थात् गांठ रहित ।

जिनके बाह्य वेष में कपडों में तो कहीं गांठ नहीं होती हैं, परंतु उनके मन में भी किसी प्रकार की गांठ नहीं होती है ।

धन, स्वजन, जमीन-जायदाद के ऊपर ममत्व भाव धारण करना, यही सबसे बडी गांठ है ।

अपने स्वार्थ में बाधक किसी व्यक्ति पर द्वेषभाव धारण करना, यह भी भयंकर गांठ है ।

राग-द्वेष की ग्रंथि के कारण ही आत्मा इस संसार में परिभ्रमण करती है ।

भव-भ्रमण से यदि मुक्ति पाना है तो इस ग्रंथि को भेदना ही होगा ।

राग-द्वेष की इस अभेद्य ग्रंथि को भेदे बिना आत्मा सम्यग्दर्शन भी प्राप्त नहीं करती है ।

राग-द्वेष से मुक्त हुए बिना आत्मा वीतराग नहीं बनती है ।

श्रमण जीवन का स्वीकार भी इस राग-द्वेष से मुक्त होने के लिए ही है ।

अकिंचनता :– अकिंचन अर्थात् परिग्रह का अभाव । सभी ग्रहों में परिग्रह सबसे भयंकर व घातक ग्रह है । दूसरे ग्रह से प्रभावित आत्मा को तो बाह्य सम्पत्ति-रोगादि की हानि होती है परन्तु यह परिग्रह रुपी ग्रह तो आत्मा की गुण सम्पत्ति को ही लूट लेता है, अतः इससे अत्यधिक सावधान रहने की आवश्यकता है ।

परिग्रह की व्याख्या करते हुए **'तत्त्वार्थसूत्र'** में कहा है, **'मूर्च्छा परिग्रहः'** किसी पदार्थ विशेष के प्रति मूर्च्छा-ममता-आसक्ति का भाव ही परिग्रह है । यही ममत्व आत्मा के बन्धन का कारण है ।

वस्तु के अभाव में उस वस्तु के प्रति यदि हृदय में मूर्च्छा-आसक्ति रही हुई है तो व्यक्ति परिग्रही बन जाता है । अन्य ग्रहों के जाल से छुटकारा पाना सरल है, परन्तु इस ग्रह के जाल से मुक्त होना, अत्यन्त ही कठिन है ।

परिग्रह से आत्मा भारी बनती है । जिस प्रकार भारी वस्तु जल में डूब जाती है और हल्की वस्तु ऊपर तैरती है, उसी प्रकार परिग्रह के भार से भारी बनी आत्मा इस भीषण संसार में डूब जाती है, और परिग्रह के भार से हल्की बनी आत्मा ऊर्ध्वगति करती है और यावत् मोक्ष पद प्राप्त करती है, अतः जीवन में परिग्रह के भार से मुक्त बनने के लिए सदैव प्रयत्नशील रहना चाहिए ।

श्रमण जीवन का पांचवा महाव्रत अर्थात् अकिंचनता ।

तत्त्वार्थ सूत्र में - ``**परिग्रह**'' की व्याख्या करते हुए कहा हैं– **`मुच्छा परिग्रहः'** किसी भी पदार्थ के प्रति रही आसक्ति ही परिग्रह है ।

आसक्ति रही हुई है तो भिखारी भी महापरिग्रही है और आसक्ति न हो तो छह खंड का अधिपति भी निष्परिग्रही है ।

संयम जीवन की आराधना-साधना करने के लिए श्रमण को संयम के उपकरण रखने की छूट हैं, क्योंकि उन उपकरणों का प्रयोग सिर्फ संयम की साधना के लिए ही करना है ।

संयम के उपकरणों में भी यदि साधु को आसक्ति है तो संयम के वे उपकरण भी परिग्रह स्वरुप बन जाते है ।

–साधु के संयम के उपकरणों को छोड अन्य किसी भी वस्तु का संग्रह नहीं करना चाहिए ।

परिग्रह एक विचित्र ग्रह है

कई बार हम देखते हैं कि व्यक्ति शनि मंगल आदि दुष्ट ग्रहों से पीड़ित होता है परन्तु उन ग्रहों का प्रभाव मर्यादित समय के लिए होता है, जबकि परिग्रह एक ऐसा ग्रह है, जिसने त्रिभुवन को विड़ंबित कर दिया है । परिग्रह की आसक्ति में देव-दानव और मानव तीनों परेशान हैं, यावत् एकेन्द्रिय जीवों में भी यह परिग्रह संज्ञा देखने को मिलती है ।

श्री रत्नमंड़न गणी द्वारा विरचित ``**सुकृतसागर ग्रंथ**'' में परिग्रह के 7 अनर्थ बतलाए हैं ।

द्वेषस्यायतनं धृतेरपचयः क्षान्तेः प्रतीपो विधि-,
व्याक्षेपस्य सुहृन्मदस्य भवनं ध्यानस्य कष्टो रिपुः ।

दुःखस्य प्रभवः सुखस्य निधने, पापस्य वासो निजः,
प्राज्ञस्यापि परिग्रहो ग्रह इव क्लेशाय नाशाय च ॥

1) द्वेष का घर :- परिग्रह में आसक्त व्यक्ति अपने स्वजनों को भी दुश्मन समझता है और उनसे भी लड़ने-झगड़ने के लिए तैयार हो जाता है। आज घर-घर में भाई-भाई के बीच कलह की होली सुलगती हुई नजर आती है, उन सबका मूल परिग्रह की आसक्ति ही है। गुजराती में कहावत है **''जर जमीन ने जोरूं, त्रणे कजियाना छोरुं।''**

इतिहास इस बात का साक्षी है कि दुनिया में आज तक जितने भी युद्ध हुए, वे सब धन, जमीन और स्त्री की आसक्ति के कारण ही हुए हैं। जमीन के लिए महाभारत का युद्ध खेला गया और स्त्री के लिए राम-रावण का भयंकर युद्ध हुआ।

2) धैर्य का नाश :- परिग्रह में आसक्त व्यक्ति का धैर्य नष्ट हो जाता है। उसे सतत यही भय और टेन्शन बना रहता है कि मेरा धन कोई लेकर चला जाएगा। परिग्रही का मन सदैव चंचल / अस्थिर रहता है।

3) क्षमा का नाश :- धन की आसक्ति के कारण व्यक्ति का क्षमा गुण नष्ट हो जाता है। अपने धन की चोरी करनेवाले को वह मौत की सजा देने के लिए भी तैयार हो जाता है।

4) चित्त की व्याकुलता :- परिग्रह में आसक्त व्यक्ति येन-केन प्रकार से अपनी संपत्ति बढाना चाहता है। नई संपत्ति को पाने और प्राप्त हुई संपत्ति को बचाने में व्यक्ति का मन लगा होने से वह सदैव आकुल व्याकुल बना रहता है।

5) अभिमान का नशा :- धन का भी अपना एक नशा होता है। धनवान व्यक्ति के दिल में गरीबों के प्रति तिरस्कार भी आ सकता है। हर क्षेत्र में धनी व्यक्ति निर्धन की आवाज को दबाने की कोशिश करता रहता है।

6) ध्यान का दुश्मन :- परिग्रह में आसक्त व्यक्ति का मन शुभ-ध्यान में स्थिर नहीं रह पाता है। उसका मन दुर्ध्यान से सदैव ग्रस्त बना रहता है। प्रभुभक्ति आदि में उसका मन कभी स्थिर नहीं रह पाता है।

7) दु:खों का आगमन :- परिग्रह की वृद्धि दु:खों को ही आमंत्रण देती है। आपके पास ज्यादा धन होगा, तो आप ज्यादा भयभीत रहोगे। धनवान व्यक्ति को ही हत्या का भय रहता है, निर्धन को नहीं।

कहा भी है

सोना जब तुम थे नहीं, सोना था आराम,
सोना जब तुम आ गए, सोना हुआ हराम ।
सोना है यदि पास में, है सोने में हार,
सोना सोना कह रहा सो ना स्वयं पुकार ।।

धन बढ़ता है और व्यक्ति की नींद हराम हो जाती है।

धनी व्यक्ति कहीं भी निर्भयतापूर्वक बाहर जा नहीं सकता है, जबकि निर्धन व्यक्ति को कहीं भय नहीं होता है।

8) अंतरंग सुख का नाश :- परिग्रह की आसक्ति जितनी अधिक तीव्र होगी, व्यक्ति की अंतरंग शांति उतनी ही लुप्त हो जाएगी। धनी व्यक्ति के पास सुख के बाह्य-साधन खूब हो सकते हैं, परन्तु भीतर से तो वह अशांत व दु:खी ही होगा।

9) पापों की उत्पत्ति :- धन में आसक्त व्यक्ति के जीवन में अनेक पाप पैदा हो जाते हैं। वह किसी की हिंसा भी कर सकता है, झूठ भी बोल सकता है, चोरी भी कर सकता है, क्रोध, मान-माया और लोभ चारों कषाय उसके जीवन में देखने को मिल सकते हैं।

परिग्रह का परिमाण अवश्य करें

धन का संपूर्ण त्याग साधु-जीवन में ही संभव है। वास्तविक सुख संपूर्णतया परिग्रहमुक्त जीवन जीने में ही है परन्तु परिग्रह के त्याग के लिए अभी इतना दृढ़ मनोबल न हो तो भी ज्ञानियों का कथन है कि जीवन में परिग्रह का परिमाण अवश्य कर लेना चाहिए। परिग्रह का परिमाण निश्चित कर लेने से निरर्थक इच्छाओं पर नियंत्रण आ जाता है और व्यक्ति अनावश्यक पापों से अपने आपको बचा लेता है। जीवन में परिग्रह का परिमाण न हो तो अल्पसंपत्ति होने पर भी सारी दुनिया के परिग्रह का पाप लगता है।

पेथड़शाह का परिग्रह परिमाण

विद्यापुर नगर में आचार्यदेव धर्मघोषसूरिजी म. का आगमन हुआ। उस समय पेथड़शाह भी अपने परिवार के साथ उसी नगर में रहता था। पेथड़शाह की आर्थिक स्थिति अच्छी नहीं थी। उस समय पेथड़शाह को लोग **पेथा** कहकर बुलाते थे।

एक बार आचार्य भगवंत ने अपने प्रवचन में परिग्रह के भयंकर अनर्थ समझाए और सभी को परिग्रह का परिमाण करने के लिए सुंदर प्रेरणा दी। आचार्य भगवंत के उपदेश को सुनकर अनेक पुण्यवंत आत्माओं ने परिग्रह का परिमाण निश्चित किया। उस समय पेथड़ भी उसी प्रवचन सभा में बैठा हुआ था। आचार्य भगवंत ने उसके ललाट पट्ट को देखा और उसकी भावी भव्यता को देखकर कहा, **``पेथड़ ! तुम भी इस लोक व परलोक में सुख देनेवाले पाँचवें अणुव्रत को स्वीकार कर लो।''**

आचार्य भगवंत के इन वचनों को सुनकर कुछ अभिमानी धनी व्यक्ति पेथड़ की मजाक करने लगे। **``जिसके पास दो समय भोजन की पूर्ण सामग्री भी नहीं है, वह क्या परिग्रह परिमाण करेगा ?''**

धनी व्यक्ति के इस उपहास को जानकर आचार्य भगवंत ने कहा, ``भाग्य का चक्र किसके जीवन में कब बदल जाय, कुछ कह नहीं सकते। पाप का उदय आने पर सत्ताधीश भी गरीब बन जाते हैं और पुण्य का उदय आने पर गरीब व्यक्ति भी धनवान बन जाता है अतः चंचल ऐसी लक्ष्मी का किसी को गर्व नहीं करना चाहिए।''

आचार्य भगवंत के मुख से इस प्रेरणा को प्राप्त कर पेथड़शा खड़े होकर बोला, **``प्रभो ! 5 सोनामोहर का परिग्रह परिमाण का व्रत मुझे प्रदान करें।''**

पेथड़शा की इस प्रार्थना को सुनकर भविष्यवेत्ता आचार्य भगवंत ने कहा, ``पेथड़ ! तेरे लिए इतना पर्याप्त नहीं है।''

पेथड़ ने कहा, **``50 सोना मोहर !''**

आचार्य भगवंत मौन रहे।

पेथड़ ने कहा **``500 सोना मोहर ।''**

पुनः आचार्य भगवंत मौन रहे ।

पेथड़ ने कहा **``5000 सोना मोहर ।''**

कुछ लोग मनोमन हँसने लगे । आज पेथड़ के पास फूटी कौड़ी भी नहीं है और वह इतनी बड़ी कल्पना कर रहा है ।

पेथड़ ने कहा, **``5 लाख सोना मोहर''**

बस, तुरंत ही आचार्य भगवंत ने उसे परिग्रह परिमाण करा दिया ।

प्रश्न खड़ा हो सकता है कि जब पेथड़ अल्प रकम का परिग्रह परिमाण करना चाहता था तो आचार्य भगवंत ने वह रकम क्यों बढ़ाई ।

इसका जवाब है, **``आचार्य भगवंत ज्ञानी थे, वे पेथड़ के भविष्य को अच्छी तरह से जानते थे । आज भले ही पेथड़ फटे हाल नजर आ रहा है, परन्तु इसका भावी उज्ज्वल है, यह भविष्य में मांड़वगढ़ का मंत्री बनेगा उस मंत्री की स्थिति में रहे पेथड़शा का ग्रहण किया गया व्रत टूट न जाय, इसी दृष्टि से आचार्य भगवंत ने रकम का आँकड़ा बढ़ाया था ।''**

निकट भविष्य में ही पेथड़शाह को स्वर्णसिद्धि प्राप्त हुई । उसके पास अपार संपत्ति हो गई परन्तु उसने ग्रहण किया हुआ अपना व्रत तोड़ा नहीं । उसने अपने नियम का बराबर पालन किया और भाग्योदय से उसे जो भी अधिक धन मिला उसका उसने पूर्ण सदुपयोग किया ।

पेथड़शाह के जीवन के सुकृत

पेथड़शाह ने भिन्न भिन्न गाँवों में 76 नये जिनमंदिर बनवाए ।

7 लाख लोगों को लेकर शंत्रुजय गिरनार का संघ निकाला ।

56 धड़ी स्वर्ण की बोली बोलकर गिरनार तीर्थ श्वेतांबरों के अधीन किया ।

गौतम शब्द के श्रवण के साथ एक स्वर्णमुद्रा रखकर, इस प्रकार 36000 स्वर्णमुद्राएँ रखकर गुरुमुख से भगवती सूत्र का श्रवण किया ।

✿ **सात बड़े ज्ञान भंड़ार बनाए ।**

✿ 32 वर्ष की युवावस्था में ब्रह्मचर्य व्रत स्वीकार किया ।

✿ **पालखी में बैठकर राजभवन जाते जाते ``उपदेशमाला'' ग्रंथ कंठस्थ किया ।**

✿ मार्ग में साधर्मिक मिल जाय तो अश्व आदि से नीचे उतरकर साधर्मिक को नमस्कार कर साधर्मिक की भक्ति करते ।

✿ **ब्राह्मणों की बस्ती ऐसे देवगिरि में भव्य जिनप्रासाद बनवाया ।**

अन्याय व अनीति के धन के 5 दुर्गुण

अन्याय, अनीति, विश्वासघात करके जो पैसा कमाया जाता है, वह पैसा आपके जीवन में 5 दुर्गुण पैदा किए बिना नहीं रहेगा ।

1) निर्दयता :- अन्याय से प्राप्त धन व्यक्ति को निर्दय बनाता है । उसके हृदय में से दया का झरना सूख गया होता है ।

2) अहंकार :- अन्याय का धन व्यक्ति के अहंकार को पुष्ट करता है । नीति का धन व्यक्ति को नम्र बनाता है जबकि अन्याय से प्राप्त धन व्यक्ति को झूठा अभिमान पैदा कराए बिना नहीं रहता है ।

3) तृष्णा :- जिस प्रकार नदियों के जल से सागर कभी तृप्त नहीं होता है, अथवा सागर के खारे जल से कभी तृप्ति का अनुभव नहीं होता है, उसी प्रकार अन्याय से प्राप्त धन भी व्यक्ति को अधिक-से-अधिक असंतोषी ही बनाता है ।

4) कठोरता :- अन्याय का धन व्यक्ति के आचरण को भी बिगाड़ता है । अन्याय से प्राप्त धन व्यक्ति को अन्यायी बनाता है । इतिहास इस बात का साक्षी है कि जिन-जिन राजाओं ने अन्याय व अत्याचार करके राज्य प्राप्त किया, उन-उन राजाओं ने राज्य प्राप्ति के बाद प्रजा पर अत्याचार ही किया है ।

5) दुर्जन-संग :- ``चोर चोर मौसेरे भाई'' की कहावत अनुसार हर व्यक्ति की अपने जैसे के साथ दोस्ती हो जाती है । अन्याय का धन जिसे प्राप्त हुआ है, उसकी वैसे ही दुर्जनों के साथ दोस्ती जमती है ।

धन जीवन का साधन हो सकता है, साध्य नहीं

भिक्षावृत्ति से जीवन-निर्वाह करना, साधु का अलंकार है, परंतु एक गृहस्थ अपने जीवन निर्वाह के लिए किसी के पास याचना करे, तो यह उसके लिए कलंक ही है ।

गृहस्थ को अपने जीवन निर्वाह के लिए धन जरूरी है, किंतु उस धन की सीमा होनी अनिवार्य है ।

वणिक् और श्रावक में बहुत बड़ा अंतर है । जब तक जीए, तब तक कुंभकार घड़े बनाता है । जब तक जीए, तब तक वणिक् धन कमाता है, किंतु श्रावक उसका नाम है जो अपनी इच्छाओं पर नियंत्रण रखता है ।

अपने पुत्र आदि आश्रित ज्योंही अपने पैरों पर खड़े हो जायें, त्योंही श्रावक पापरूप व्यवसाय का त्याग कर देता है ।

अपने परिग्रह को भी परिग्रह परिमाण द्वारा नियंत्रित कर देता है ।

ठीक ही कहा है Money is the instrument of life, but should not be the aim of our life.

पैसा जीवन जीने का साधन अवश्य हो, किंतु पैसा, जीवन का साध्य तो कभी नहीं बनना चाहिए ।

जब एक दिन दुनिया छोड़कर जाना ही है तो फिर नश्वर संपत्ति के पीछे इतना पागलपन क्यों ?

चार गति स्वरूप भीषण संसार में अनादि काल से परिभ्रमण करते हुए भव्य जीवों के समुद्धार के लिए सर्वज्ञ सर्वदर्शी चरम तीर्थ-पति भगवान महावीर परमात्मा ने धर्मशासन की स्थापना की थी । केवलज्ञान की प्राप्ति के बाद अरिहंत परमात्मां प्रतिदिन दिन के पहले व चौथे प्रहर में धर्मदेशना प्रदान कर जगत् के जीवों को आत्मकल्याण का विशुद्ध मोक्षमार्ग दिखलाते हैं ।

परमात्मा ने कहा है कि राग और द्वेष आत्मा के भयंकर शत्रु हैं । उन्हीं के कारण आत्मा कर्म का बंध करती है और परिणामस्वरूप आत्मा इस संसार में भटकती है ।

उन राग-द्वेष रूपी शत्रुओं को परास्त करने के लिए ही परमात्मा महावीर प्रभु ने सर्व प्रथम **``साधु-धर्म''** का उपदेश दिया है । साधु-धर्म

अर्थात् पाँच महाव्रतों का पालन तथा क्षमा आदि दस यतिधर्मों का आचरण ।

निरतिचार इन महाव्रतों के पालन से और क्षमा आदि दस धर्मों का जीवन में आचरण करने से आत्मा अल्प काल में ही राग-द्वेष रूप अंतरंग शत्रुओं को जीतकर शाश्वत जीवन यानी मोक्षपद प्राप्त कर सकती हैं ।

जो आत्माएँ साधुधर्म का निरतिचार परिपालन करने में अस-मर्थ हैं-उन आत्माओं के समुद्धार के लिए तारक परमात्मा ने ``**श्रावक-धर्म**'' का उपदेश दिया है । सम्यक्त्व मूलक बारह व्रत स्वरूप श्रावक धर्म का पालन करने से क्रमशः आत्मा मोक्ष मार्ग में आगे बढ़ सकती है और अल्प भवों में ही शाश्वत जीवन (मोक्ष) प्राप्त कर सकती है ।

श्रावक जीवन अर्थात् कमल का जीवन । जिस प्रकार कमल कीचड़ में पैदा होता है और जल से बढ़ता है । परंतु वह कमल कीचड़ और जल दोनों से अलिप्त रहता है ।

बस उसी प्रकार श्रावक, कर्म रूपी कीचड़ से संसार में पैदा हुआ और भोग रूपी जल से वृद्धिंगत हुआ फिर भी उनसे अलिप्त रहता है ।

यह ``**अनासक्ति**'' ही श्रावक जीवन की उत्कृष्ट साधना है । धन, सम्पत्ति, वैभव, स्त्री, पुत्र आदि परिवार के बीच रहकर भी उनसे अलिप्त रहना, अनासक्त रहना यह कोई सामान्य साधना नहीं है ।

अनासक्ति के मार्ग पर उत्तरोत्तर आगे बढ़ने के लिए श्रावक जीवन के अलंकार स्वरूप बारह व्रतों का परिपालन करना है ।

यदि श्रावक अपने जीवन में इन व्रतों का समुचित पालन करे तो वह अपने वर्तमान जीवन में भी परमशान्ति का अनुभव कर सकता है-मृत्यु के समय समाधि-भाव प्राप्त कर सकता है और इसके साथ ही परलोक में सद्गति और परंपरा से मोक्षपद प्राप्त कर सकता है ।

श्रावक को अपना जीवन निर्वाह करने के लिए धन की आवश्य-कता रहती है । अपने वृद्ध मातापिता, दादा-दादी तथा आश्रित संतानों की भी जवाबदारी श्रावक को निभानी पड़ती है । इन सब के लिए उसे धन आदि की आवश्यकता रहती है । अपने जीवन निर्वाह के लिए

श्रावक किसी के पास याचना करे-यह श्रावक के लिए शोभास्पद नहीं है अतः इसके लिए श्रावक को अर्थार्जन करना ही पड़ता है। श्रावक को धन रखने की छूट दी गई है इसका मतलब यह नहीं कि वह येन-केन उपाय से झूठ, कपट, मिलावट, विश्वासघात आदि करके भी अर्थार्जन करे।

श्रावक को अर्थार्जन करना है-परंतु उसमें न्याय और नीति का पूर्णतया पालन करना है। न्याय और नीति से अर्जित धन ही व्यक्ति को इस जीवन में शांति दे सकता है। कोई पापानुबंधी पुण्य का उदय हो और अन्याय व अनीति से भी व्यक्ति खूब धन कमा ले परंतु उस धन के उपभोग से उसकी अंतरात्मा को कभी भी शांति नहीं मिल सकती।

न्याय व नीति से अर्थार्जन करना यह मार्गानुसारिता का पहला गुण है। परंतु न्याय व नीति से भी उपार्जित धन का परिमाण निश्चित करना श्रावक का धर्म है।

इच्छाएँ आकाश के समान अनंत हैं। ज्यों-ज्यों धन बढ़ता है-त्यों-त्यों लोभ बढ़ता जाता है। बस, इस लोभ वृत्ति पर नियंत्रण रखने के लिए ही श्रावक जीवन में पाँचवें अणुव्रत के रूप में ``परिग्रह परिमाण अणुव्रत'' का निर्देश किया गया है।

वास्तव में तो श्रावक का जीवन संतोषी का जीवन होता है। उसके जीवन में वैभव विलासिता और बाह्य आड़ंबर को कोई स्थान नहीं होता है। अत्यंत ही सादगीपूर्ण उसका जीवन होता है। अपने सादगीपूर्ण जीवननिर्वाह के लिए और अपने आश्रितों के परिपालन के लिए वह आवश्यकतानुसार अर्थार्जन करता है...उसमें यदि कदाचित् भाग्य योग से अधिक धन मिल जाय तो वह उस धन का भोग-वैभव व विलासिता में उपयोग न कर जिनशासन की आराधना व प्रभावना आदि में उस धन को लगाए...परंतु इसका अर्थ यह नहीं है कि वह शासन प्रभावना के कार्यों को संपन्न कराने के लिए अनेकविध पापाचरणों की प्रवृत्ति करे। आज श्रावक जीवन के उस मूलभूत सिद्धांत को लगभग भुला दिया गया है, फलस्वरूप इसके कटु परिणाम हमारे सामने स्पष्ट हैं।

तारक परमात्मा ने तो धन (परिग्रह) को **``पाप''** ही कहा है और इसी कारण श्रमण जीवन में इसके संपूर्ण त्याग पर भार दिया गया है। परंतु श्रावक के लिए धन के अभाव में जीवन निर्वाह करना शक्य

नहीं है-इसीलिए प्रभु ने पाँचवें अणुव्रत के रूप में **''स्थूल परिग्रह परिमाण अणुव्रत''** का स्पष्ट निर्देश दिया है ।

न्यायपूर्वक अर्थार्जन करना नीति (अर्थपुरुषार्थ) है और न्यायपूर्वक अर्थार्जन का भी परिमाण (मर्यादा-सीमा) निश्चित करना धर्म है । इससे हमें नीति और धर्म की स्पष्ट भेदरेखा का ख्याल आ सकता है । धन तो सिर्फ जीवन जीने के लिए साधन मात्र है । जीवन का साध्य तो धर्म और मोक्ष पुरुषार्थ है । धन से बाह्य सुख-सामग्री के साधन खरीदे जा सकते हैं परंतु अंतरंग शांति, संतोष आदि आत्मगुणों की प्राप्ति अंतरंग साधना से ही हो सकती है ।

सुख की वास्तविक आधारशिला धन-संपत्ति नहीं, किंतु संतोष आदि आत्म-संपत्ति है-परमात्मा के इस शाश्वत सत्य को जिन-जिन पुण्यवंत आत्माओं ने अपने जीवन में अपनाया है, उन्होंने इस जीवन में परमशांति का अनुभव किया है ।

परमात्मा महावीर देव की वाणी किसी कालविशेष से सापेक्ष नहीं थी । उनकी वाणी में तो शाश्वत सत्यों का उद्‌घोष था-जो भी उन्हें अपने जीवन में प्रेम व आदर से अपनाएगा-वह अपने जीवन में सच्ची शांति का अनुभव किए बिना नहीं रहेगा ।

परमात्मा महावीर प्रभु का परिग्रह परिमाणवाद जीवन में वास्तविक शांति का सर्वश्रेष्ठ मार्ग है । उस मार्ग का जितना अधिक पालन होगा जीवन में उतनी अधिक शांति प्राप्त होगी और उस मार्ग की जितनी उपेक्षा होगी उतनी ही जीवन में अशांति नजर आएगी ।

परिग्रह छोड़ो

हिंसा, झूठ, चोरी व व्यभिचार को तो सारी दुनिया पाप मानती है, अतः वे प्रवृत्तियाँ लोक में भी निंद्य होने के कारण उन पापों के आचरण से व्यक्ति ड़रता भी है, परन्तु अधिकांशतः दुनिया परिग्रह-पैसे को पाप नहीं मानती है, इसी कारण धन के संग्रह में प्रयत्नशील बनी रहती है । अन्याय और अनीति तो पाप हैं ही, परन्तु न्याय मार्ग से उपार्जित धन भी पाप है-यह बात जैन दर्शन समझाता है ।

मम्मण ने अन्याय-अनीति-लूंट या चोरी करके धन इकट्ठा

नहीं किया था, फिर भी धन की मूर्च्छा के पाप के कारण मम्मण सेठ मरकर 7वीं नरक में चला गया ।

कई व्यक्ति हिंसा, झूठ, चोरी व व्यभिचार के पाप का त्याग कर देंगे, परन्तु धन की ममता नहीं छोड़ेंगे । धन की ममता का त्याग करना अत्यंत ही दुष्कर कार्य है ।

सच्चा अपरिग्रही कौन ?

जिसके पास धन नहीं है इतने मात्र से वह अपरिग्रही नहीं कहलाता है । एक भिखारी के पास खाने की कोई सामग्री नहीं होती है । पहिनने के कपड़ों का भी कोई ठिकाना नहीं होता है...परन्तु इतने मात्र से वह अपरिग्रही नहीं कहलाता है ।

आपके द्वार पर एक भिखारी भी आता है, वह रोटी के टुकड़े की भीख मांगता है, फिर भी आप उसको पेट भरकर भोजन नहीं देते हैं । देते भी है तो अनादर से ।

परन्तु आपके द्वार पर जैन साधु आ जाय तो आप उनको आदर व सम्मान के साथ अंदर बुलाते हैं और अत्यंत ही भक्ति भाव से आग्रह कर-करके आप बहोराते हैं ।

इसका कारण क्या ?

कारण यही है कि भिखारी के पास कुछ नहीं होने पर भी वह बड़ा परिग्रही है, क्योंकि उसके मन में धन के प्रति तीव्र आसक्ति रही हुई है, जब कि साधु महात्मा ने तो जो कुछ भी अपने पास था, उसे भी लात मार दी है । साधु के पास धन का ढेर भी रख दो तो भी वे उसका स्पर्श भी नहीं करते हैं ।

कई महानुभाव गुरु भगवंतों का सोने की गिनी से गुरुपूजन करते हैं, परन्तु वे गुरु भगवंत उस धन के मालिक बनने तो दूर रहे, उसका स्पर्श भी नहीं करते हैं ।

साधु भगवंत ने धन की इच्छा मात्र का त्याग किया है, इसी कारण वे अपरिग्रही कहलाते हैं ।

धन के प्रति रही हुई आसक्ति, मूर्च्छा ही सबसे बड़ा पाप है ।

जिसने आसक्ति के बंधन को तोड़ ड़ाला है, उसके पास

अपार संपत्ति हो तो भी वह अपरिग्रही है । भरत चक्रवर्ती छह खंड के अधिपति थे, परन्तु वे मन से ही सर्वथा अलिप्त थे । इस कारण छह खंड के अधिपति होने पर भी उन्हें आरिसा भवन में केवलज्ञान हो गया था ।

व्यवहार नय बाह्य धन-संपत्ति को परिग्रह कहता है, जबकि निश्चय नय से परिग्रह का संबंध बाह्य संपत्ति से नहीं किंतु अंतरंग आसक्ति से है । यदि आपके भीतर आसक्ति है तो आपके पास अल्प संपत्ति होगी तो भी आप महा परिग्रही है ।

मोक्षमार्ग की साधना की सफलता और सार्थकता परिग्रह की आसक्ति को तोड़ने में है ।

बाहर से संसार का त्याग कर दिया, परन्तु भीतर यदि आसक्ति जीवंत है तो उस त्याग का विशेष अधिक मूल्य नहीं है ।

❀ सुमंगलाचार्य भगवंत अत्यंत ही शासनप्रभावक थे । वृद्धावस्था में शारीरिक प्रतिकूलता के कारण उन्होंने एक कमरपट्टे का उपयोग प्रारंभ किया था । कमरपट्टे का उपयोग एक आपवादिक परिस्थिति में प्रारंभ किया था । कुछ समय बाद वे पूर्ण स्वस्थ हो गए, परन्तु कमरपट्टे की ममता उनके दिल में घर कर गई । कमरपट्टे का त्याग उनके लिए असह्य हो गया । कमरपट्टे की आसक्ति तीव्र बनती गई । बस, इस एक पाप के कारण वे मरकर अनार्य देश में पंगु के रूप में पैदा हुए ।

परिग्रह आसक्ति का पाप अत्यंत ही खतरनाक है ।

अर्थ अनर्थ का मूल

सारे अनर्थों का मूल पैसा है, धन के अर्जन के लिए व्यक्ति हिंसा, झूठ, चोरी आदि पापों का आश्रय लेता है, पुण्य योग से धन मिल भी गया तो अब उसके रक्षण की चिंता खड़ी होती है । पैसा नहीं था, तब पैसा कमाने की चिंता थी...पैसा अब आ गया तो उसको बढ़ाने और उसके रक्षण की चिंता खड़ी हो गई । आया हुआ धन चला न जाय, उसकी चिंता व्यक्ति को परेशान करती है ।

अतृप्त और असंतोषी व्यक्ति सदैव अशांत होता है ।

तृप्त और संतोषी व्यक्ति सदैव शांत होता है । मम्मण सेठ के पास अमाप सम्पत्ति थी, उसके पास कीमती रत्न थे, किंतु उस अमाप

समृद्धि से भी उसका हृदय असंतुष्ट था। अतः वह सांसारिक दृष्टि से सुखी कहलाता था किंतु शांत नहीं। वह बाहर से समृद्ध होते हुए भी अंदर से गरीब था, दरिद्र था।

पुणिया श्रावक के पास विशेष सम्पत्ति नहीं थी। उसका जीवन सादगीपूर्ण था। लेकिन अल्प सम्पत्ति में भी वह तृप्त और संतुष्ट था, अतः उसका मन शांत था। **``संतोष''** गुण को उसने अपने जीवन में आत्मसात् किया था, इसी के फलस्वरूप अल्प संपत्ति में भी वह अंतर से समृद्ध था। उसके मुख पर लेश भी दीनता नहीं थी।

शालिभद्र के पास बाह्य वैभव था और उनका मन संतुष्ट भी था। अतः वे बाह्य समृद्धि के मालिक बनकर जीये, गुलाम बनकर नहीं। इसी कारण वे एक ही साथ उस विपुल समृद्धि का त्याग भी कर सके। उनकी समृद्धि उनके लिए बंधन रूप नहीं बनी।

जो बाह्य समृद्धि, चित्त की समाधि में बाधक बनती हो, वह वास्तव में समृद्धि ही नहीं है।

सच्चा वैभव तो वह है, जो अपनी आत्मा को स्वतंत्रता की बक्षीस प्रदान करे। जो वैभव आत्मा को गुलामी प्रदान करे, उस वैभव से हमें क्या मतलब है ?

संतोषी और विरक्त आत्मा धन का मालिक बनकर जीती है, जबकि असंतुष्ट और आसक्त आत्मा धन की गुलाम बनकर जीती है।

विरक्त आत्मा धन से दूर भागती है, जिसके फलस्वरूप धन उसके पैर चूमता है।

आसक्त व्यक्ति धन के पीछे दौड़ता है, जिसके फलस्वरूप वह एक मात्र कष्ट ही पाता है।

पशु को प्रकृति ने चार पैर दिए हैं किंतु दो हाथ नहीं दिये। मानव के दो ही पैर हैं, किंतु उन दोनों पैरों से आराम से चल सकता है। मानव को प्राप्त दो हाथ, प्रकृति की सबसे बड़ी भेंट है।

इन दो हाथों के बल से मानव अपने जीवन में बहुत कुछ करता है और कर सकता है।

जीवन की पवित्रता के लिए इन हाथों की शुद्धि अत्यंत ही आवश्यक है। मस्तिष्क की भांति मानव के हाथ भी साफ होने चाहिए।

हाथ साफ होने चाहिए अर्थात् नीति साफ होनी चाहिए।

रास्ते चलते किसी की कोई कीमती वस्तु नीचे गिरी हुई दिखाई दे तो तुरंत ही ये हाथ उसे उठाने के लिए लालायित हो जाते हो तो समझना चाहिए कि इन हाथों में शुद्धि नहीं है ।

चाहे कितनी भी कीमती वस्तु क्यों न हो और एकांत भी क्यों न हो, किंतु जिसके हाथ साफ हैं, वह व्यक्ति उस वस्तु को उठाने के लिए कभी प्रयत्न नहीं करेगा । उसके लिए तो वह पर धन धूल के समान ही है ।

जीवन में धन संबंधी सारे पाप हाथों से ही होते हैं, अत: जीवन की पवित्रता के लिए इन हाथों को सदैव साफ रखना चाहिए ।

अंतरंग परिग्रह छोड़े

धन-धान्य, पुत्र-परिवार, मकान-दुकान आदि बाह्य परिग्रह हैं और क्रोध-लोभ-ईर्ष्या आदि अंतरंग परिग्रह हैं । बाह्य-परिग्रह का त्याग आत्म-साधना में सहायक बनता है परन्तु शर्त यह है कि उस त्याग के साथ अंतरंग-परिग्रह का त्याग अवश्य होना चाहिए । अंतरंग-परिग्रह के त्याग का लक्ष्य न हो तो बाह्य परिग्रह का त्याग लाभकारी नहीं बन पाता है । **बाह्य परिग्रह का त्याग साधन है और अंतरंग परिग्रह का त्याग साध्य है ।** जो साधन, साध्य को सिद्ध न करे वह साधन निरर्थक ही है । साधन की सफलता साध्य की प्राप्ति पर ही अवलंबित है । साध्य को भूलकर साधन के इर्दगिर्द घूमनेवाला कभी अपने लक्ष्य को सिद्ध नहीं कर पाता है ।

हमने धन छोड़ा, माता-पिता व परिवार...यह सब बाह्य परिग्रह छोड़ दिया, परन्तु इसके साथ क्रोध-लोभ-ईर्ष्या आदि अंतरंग परिग्रह को छोड़ने का लक्ष्य नहीं बनाया...तो हमारी साधना सफल नहीं हो सकती ।

बाह्य-परिग्रह का त्याग, साधना की प्राथमिक भूमिका है...इसके साथ हमारी साधना का मंगल प्रारंभ होता है । बाह्य त्याग से हमें अंतरंग त्याग में सहायता अवश्य मिलती है । वास्तव में संयम जीवन के स्वीकार के बाद अंतरंग परिग्रह के त्याग की ओर विशेष लक्ष्य होना चाहिए अन्यथा-**``माल गायब और पैकिंग हाथ में''** रह जाएगा । सच मायने में पैकिंग या बारदान की कीमत माल के आधार पर है ।

पैकिंग सुंदर है-परंतु माल गायब है अथवा माल घटिया किस्म का है तो उसे कोई मूर्ख ही स्वाकीर करेगा । समझदार व्यक्ति उसे कभी स्वीकार नहीं कर सकता ।

बाह्य-परिग्रह को चर्म-चक्षुओं से देखा जा सकता है, अतः उसके त्याग-अत्याग का तो हमें प्रत्यक्ष अनुभव होता है-परंतु अंतरंग परिग्रह तो मानसिक वस्तु है-चर्म-चक्षुओं के द्वारा वह दिखाई नहीं देता है-उसके लिए तो चाहिए-अंतरंग ज्ञान चक्षु !

अंतरंग ज्ञान चक्षु के बिना न तो उस परिग्रह को जाना जा सकता है और न ही उसके त्याग हेतु विशिष्ट पुरुषार्थ संभव है ।

सतत आत्म-निरीक्षण न हो तो बाह्य-परिग्रह के त्याग में अपने लक्ष्य की इतिश्री माननेवाला सतत अंतरंग परिग्रह के जाल में फँस जाता है । मात्र उसके पास में बाह्य-त्याग का लिबास रह जाता है और वह अंतरंग परिग्रह के जाल में एकदम फंस जाता है ।

क्रोध-लोभ आदि अंतरंग परिग्रह के त्याग से हमें आत्मा का ऐसा अखूट खजाना प्राप्त होता है, जिसे न कोई लूट सकता है-न कोई चुरा सकता है । उस अक्षय खजाने को जिसने पा लिया, उसके जीवन में दीनता या हीनता की भावना को कोई स्थान नहीं होता है । उस आत्मिक-आनंद के आगे उसे दुनिया की समस्त ऋद्धि-सिद्धि व समृद्धि तुच्छ प्रतीत होती है । उसका आनंद कुछ और ही होता है । भौतिक संपत्ति के अधिपति शहनशाह या चक्रवर्ती का आनंद भी उसके आगे तुच्छ प्रतीत होता है ।

अंतरंग परिग्रह के त्याग बिना आत्मा के अखूट खजाने की प्राप्ति की कल्पना भी संभव नहीं है । दुनिया में भी हम देखते हैं-कि कुछ पाने के लिए पहले कुछ छोड़ना पड़ता है । बाजार में जाते हैं । मिठाई, कपड़े तथा दागीने आदि देखकर मन ललचा जाता है-परंतु उन्हें पाने के लिए पहले मूल्य चुकाना पड़ता है, बिना मूल्य चुकाए कुछ भी वस्तु प्राप्त नहीं हो पाती है ।

बस, इसी प्रकार आत्म-सम्पत्ति को पाना है तो इसकी पहली शर्त अंतरंग परिग्रह के त्याग की है । अंतरंग परिग्रह के त्याग का मूल्य चुकाए बिना वास्तविक आत्मसंपत्ति की प्राप्ति संभव नहीं है ।

क्रोध अंतरंग परिग्रह है और क्षमा अपरिग्रह है। क्रोध के त्याग से हमें क्षमा रूपी अंतरंग संपत्ति की प्राप्ति होती है ।

सुखी कौन ?

पश्चिम के पास विज्ञान है तो पूर्व के पास अध्यात्म है ।

दोनों की दिशाएँ भिन्न हैं । विज्ञान जड़ पदार्थों के माध्यम से सुख देने व सुख पाने की बात करता है जबकि अध्यात्म की दिशा इससे विपरीत है ।

अध्यात्म तो भौतिक साधनों के त्याग में और आत्म-साधना में सुख की बात करता है ।

एक राजा के शरीर में भयंकर बीमारी हो गई । अनेक बाह्य उपचारों से भी उसके रोग का कोई निदान नहीं हो पाया ।

आखिर राजा ने नगर में उद्घोषणा करवाई, ***''यदि कोई मेरी बीमारी को मिटा देगा तो मैं उसे अपना आधा राज्य दे दूंगा ।''***

इस घोषणा को सुनकर अनेक वैद्यों ने आकर राजा के विविध उपचार किए...किन्तु राजा की बीमारी नहीं मिटी ।

आखिर एक परदेशी व्यक्ति आया। उसने राजा का वह ढिंढोरा सुना तो तत्क्षण बोला, ***'मुझे राजा के पास ले चलो, मैं राजा की बीमारी मिटा दूंगा ।'***

थोड़ी देर बाद उसे राजा के पास ले जाया गया । राजा के पास पहुँचने के बाद उसने राजा की Body *को* Check *किया और उसके बाद बोला,* ***''ओहो ! इसमें क्या है ? आपकी बीमारी का तो सीधा-सादा इलाज है ।''***

''बताओ ! कौन सा इलाज है ?''

उसने कहा, ***''राजन् ! आप एक सुखी व्यक्ति का कमीज पहिन लो, आपकी बीमारी तुरंत मिट जाएगी ।''***

राजा ने तुरंत ही एक प्रतिनिधि मंड़ल तैयार किया और आदेश दिया, ***''नगर में जाकर किसी सुखी व्यक्ति का कमीज लेकर आओ ।''***

राजा की आज्ञा होते ही वह प्रतिनिधि मंड़ल नगर की ओर आगे बढ़ा । सामने एक विशाल बंगला था । उस बंगले में नगरसेठ रहते थे । प्रतिनिधि मंड़ल नगरसेठ के पास पहुँच गया ।

नगरसेठ ने उनका भावभीना स्वागत किया और उनके आगमन का कारण पूछा ।

कारण सुनते ही नगरसेठ बोले, **''बंधुओ ! तुम रास्ता भूल गए हो ! कमीज चाहिए तो एक के बदले दस दे दूँ...परन्तु तुम्हारी शर्त का पालन कठिन है । मेरे जैसा दुःखियारा शायद ही कोई होगा । मेरे शरीर में कितने भयंकर रोग हैं ? Heart Attack, Blood Pressure, Diabetes अनेक प्रकार के रोगों से मैं परेशान हूँ । रात को थोड़ी भी नींद नहीं आती है । दुनिया मुझे सुखी कहती होगी । परन्तु मेरे जैसा दुःखी कोई नहीं है । मेरी नजर में तो दिन भर महेनत मजदूरी करने वाला और रात को फुटपाथ पर मस्ती की नींद लेने वाला वह मजदूर ज्यादा सुखी है ।''**

सेठ ने कहा, **''घर में खाने की कोई कमी नहीं है...परन्तु बीमारी के कारण मिष्टान्न का एक दाना भी नहीं ले सकता हूँ...घी भी बंद है...रोटी भी लूखी खाता हूँ ।''**

सेठ की बातें सुनकर प्रतिनिधि मंड़ल ने वहाँ से विदाई ली ।

उसके बाद वह प्रतिनिधि मंड़ल राजा के मुख्य मंत्री के घर पहुंचा । मुख्य मंत्री के महल में प्रवेश करने के लिए उन्होंने तैयारी की । उन्होंने द्वार खट खटाया । भीतर परस्पर झगड़े का कोलाहल सुनाई दे रहा था । कान देने पर पता चला कि मंत्री की पत्नी, मंत्री से शिकायत कर रही है ।

प्रतिनिधि मंड़ल ने मंत्री के भवन में प्रवेश किए बिना ही वहाँ से विदाई ले ली । उसके बाद वे सेनापति के घर पहुँचे ।

परन्तु सेनापति भी परेशान था अपने इकलौते बेटे से ।

उसके बाद वह प्रतिनिधि मंड़ल पुरोहित के घर पहुँचा । पुरोहित ने कहा, **''घर में सब कुछ ठीक है किन्तु एक संतान नहीं है । संतान के अभाव के कारण मैं रात और दिन परेशान हूँ ।''**

प्रतिनिधि मंड़ल ने वहाँ से भी विदाई ली ।

वह प्रतिनिधि मंड़ल जहाँ गया, वहां से खाली हाथ ही लौटा।

अंत में, वह प्रतिनिधि मंड़ल जंगल की ओर आगे बढ़ा । पर्वत के एक भाग में उन्हें सुमधुर संगीत सुनाई दिया ।

उस संगीत में आनंद की मस्ती प्रतीत हो रही थी । प्रतिनिधि मंड़ल आगे बढ़ा । आगे जाकर उन्होंने देखा... **''एक महात्मा आनंद से परमात्म-भक्ति का गीत गा रहे थे ।''**

प्रतिनिधि मंड़ल ने महात्मा के चरणों में प्रणाम किया । तत्पश्चात् महात्माजी से पूछा, **''महात्माजी ! अनेक लोगों से हम मिले...परन्तु आपके चेहरे पर जितनी प्रसन्नता है, उतनी प्रसन्नता हमें कहीं देखने को नहीं मिली, सच बात है न ?''**

''बिल्कुल ठीक कहा आपने ! दु:ख क्या बला है, मुझे पता नहीं है । मैं तो मस्ती से जी रहा हूं ।'' महात्मा ने कहा ।

''ओहो ! तब तो अपनी एक कमीज हमें दे दो...आपकी कमीज पहिन कर हमारे महाराजा दु:खमुक्त हो जाएंगे ।'' प्रतिनिधि मंड़ल ने कहा ।

''परन्तु देने के लिए कमीज कहाँ है मेरे पास ?'' -महात्मा ने कहा ।

प्रतिनिधि मंड़ल सोच में पड़ गया-**''ओहो ! जिसके पास कमीज के ढेर हैं, उनके पास सुख नहीं है और जिसके पास सुख है, उसके पास देने के लिए कमीज नहीं है । कैसी विचित्रता है !''**

उन्होंने जाकर राजा से बात की । राजा के मन में महात्मा के दर्शन की उत्सुकता पैदा हुई ।

वह महात्मा के पास आया और बोला, **''महात्मा जी ! आपके पास कुछ नहीं है तो फिर आप सुखी कैसे ?''**

'मेरे पास कुछ नहीं है, इसीलिए तो मैं सुखी हूँ ।' महात्मा की बात को सुनकर राजा को बडा आश्चर्य हुआ ।

भगवान महावीर ने सैकडों वर्ष पूर्व जो घोषणा की थी कि 'सुख त्याग में हैं, किंतु भोग में नहीं है ।' इस सत्य को जीवन में आत्मसात् करने के लिए प्रयत्न करना चाहिये ।

10 ब्रह्मचारी बनें

श्रमण जीवन के पांच महाव्रतों में सबसे अधिक महत्त्व चौथे ब्रह्मचर्य महाव्रत का है, क्योंकि अन्य सभी महाव्रतों में अपवाद का उल्लेख हैं अर्थात् किसी विकट परिस्थिति में उन-उन महाव्रतों में अपवाद अर्थात् छूट दी गई हैं, जबकि इस महाव्रत में किसी भी प्रकार का अपवाद नहीं है अर्थात् किसी भी परिस्थिति में किसी भी प्रकार की छूट नहीं है ।

पाप का प्रवेश द्वार **'आंख'** है, अतः सर्वप्रथम इस व्रत की रक्षा के लिए आंख पर संयम होना खूब जरुरी है ।

विहार दरम्यान कई बार ट्रकों के पीछे यह Slogan पढने में आता है ।

'बूरी नजरवाले ! तेरे मुंह काला ।'

अर्थात् तुम्हारी नजर साफ नहीं हैं तो तुम चाहे जितने गौरे होंगे तो भी काले ही हो ।

तुम्हारे रुप की कीमत नहीं हैं, परंतु तुम्हारी देखने के Angle की कीमत है । तुम किसी स्त्री को किस नजर से देख रहे हो ?

इस आर्यदेश में तो परस्त्री को माँ, बहन व पुत्री की नजर से देखने की आज्ञा है ।

माता, बहन व पुत्री के संबंध पवित्र कहलाते है । उसे आंख के सामने रखना है अर्थात् किसी संयोग में किसी स्त्री पर नजर पड जाय तो उसमें मातृत्व आदि भावों को साथ में रखकर नजर करनी चाहिए ।

गृहस्थ जीवन में भी जब इतनी मर्यादा है तो साधु जीवन में तो उससे भी बढकर मर्यादाओं का पालन करना चाहिए ।

साधु के लिए तो सभी स्त्रियाँ **'परस्त्री'** ही है, अतः उसके प्रति लेश भी राग भाव न आ जाय, उसके लिए खूब सावधानी रखनी चाहिए ।

दशवैकालिक सूत्र में ठीक ही कहा है–

'मध्याह्न के सूर्य को देखने के साथ ही व्यक्ति अपनी नजर

खींच लेता है, उसी प्रकार स्त्री पर नजर पडने के साथ ही तुरंत ही उस नजर को वहां से खींच लेनी चाहिए।' अर्थात् वहां से नजर हटा लेनी चाहिए।

किसी भी स्त्री को घूरकर, टकटकी नजर से देखने से अपने मन के भीतर कामराग पैदा हुए बिना नहीं रहता है।

जिस प्रकार खेत में उगे धान्य के रक्षण के लिए खेत के चारों ओर कांटों की बाड की जाती है, उसी प्रकार इस महाव्रत के रक्षण के लिए ज्ञानियों ने एक नहीं, दो नहीं बल्कि नौ-नौ बाडों का विधान किया है।

उन नियमों के परिपूर्ण पालन में ही इस व्रत का रक्षण है। कहीं भी किसी भी बाड में स्खलना होने के साथ ही इस व्रत के ऊपर हमला हुए बिना नहीं रहता है।

ब्रह्मचर्य :– ब्रह्म अर्थात् आत्मा, उसमें लीन बनना ब्रह्मचर्य कहलाता है। स्थूलदृष्टि से मैथुनसेवन के त्याग को ब्रह्मचर्य कहते है।

ब्रह्मचर्य साधु-जीवन का प्राण है। सभी सिद्धियों का आधार है।

जिसके जीवन में ब्रह्मचर्य नहीं, वह साधु, श्रमण नहीं कहला सकता।

जिसके जीवन में ब्रह्मचर्य नहीं, वह किसी भी प्रकार की आत्म-सिद्धि को प्राप्त नहीं कर सकता।

ब्रह्मचारी के लिए साधना और सिद्धि सुलभ है।

निर्मल ब्रह्मचर्य के पालन के लिए ब्रह्मचर्य की नौ बाड़ों का अवश्य पालन करना चाहिए। जो व्यक्ति इन नौ बाड़ों के पालन की उपेक्षा करता है, उसका ब्रह्मचर्य खतरे में पड़ जाता है।

ब्रह्मचर्य के विशुद्ध पालन के लिए विजातीय परिचय से दूर रहना चाहिए।

मन में भी किसी प्रकार के अशुभ विचार पैदा न हों इसके लिए मन को सतत ज्ञान, ध्यान व स्वाध्याय में जोड़ कर रखना चाहिए। कहावत भी है 'खाली दिमाग शैतान का घर' Empty mind is devil's workshop. अतः सतत शुभ प्रवृत्ति में मग्न रहना चाहिए।

ब्रह्मचर्य के विशुद्ध पालन के लिए पौद्गलिक विषयों के आकर्षण से सदैव दूर रहना चाहिए और उनकी क्षणिकता, अनित्यता, असारता आदि का सतत चिन्तन-मनन करना चाहिए ।

ब्रह्मचर्य के विशुद्ध पालन के लिए स्थूलभद्रस्वामी, जंबूस्वामी, नेमिनाथ प्रभु आदि महान् ब्रह्मचारियों के जीवन चारित्र, जीवन-प्रसंग आदि से बार-बार अपने मन को भावित करना चाहिए ।

ब्रह्मचर्य के विशुद्ध पालन के लिए रस युक्त, मादक और उत्तेजक आहार का त्याग करना चाहिए ।

ब्रह्मचर्य के विशुद्ध पालन के लिए सतत शास्त्र-स्वाध्याय में रत रहना चाहिए और बाह्य जगत् के परिचय से दूर रहना चाहिए ।

ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए स्त्री-कथा व भक्त (भोजन) कथा (बातचीत) का त्याग करना चाहिए ।

उपर्युक्त नियमों का पालन करने पर साधक अपने ब्रह्मचर्य व्रत की रक्षा करने में सफल हो सकता है ।

इस महाव्रत के रक्षण के लिए साधु को सर्वप्रथम कौनसी बस्ती में रहना चाहिए और कौनसी बस्ती में नहीं रहना चाहिए – उसके लिए बहुत ही सुंदर मार्गदर्शन दिया है ।

ब्रह्मचर्य के रक्षण के लिए

1) उपयुक्त निवास

वस्तु जितनी अधिक कीमती होती है, उसकी सुरक्षा के लिए उतने ही अधिक साधनों की आवश्यकता रहती है । सामान्य व्यक्ति कहीं भी जा-आ सकता है...परन्तु प्रधानमंत्री जहाँ-तहाँ नहीं जा सकता । वह कहीं भी जायेगा तो उसके साथ अंगरक्षक आदि की आवश्यकता रहेगी ।

बस, इसी प्रकार अन्य व्रतों की अपेक्षा ब्रह्मचर्यव्रत का सबसे अधिक मूल्य होने से तथा अन्य व्रतों की अपेक्षा ब्रह्मचर्यव्रत का पालन अत्यन्त ही दुष्कर होने से इस व्रत के संरक्षण के लिए नौ बाड़ों का विधान किया गया है ।

इनमें सर्वप्रथम बाड़ के अन्तर्गत ब्रह्मचारी को सुयोग्य स्थान में ही रहने का निर्देश किया गया है ।

ब्रह्मचारी व्यक्ति को स्त्री, पशु और नपुंसक से रहित स्थान में रहना चाहिए क्योंकि उनके सतत सम्पर्क में रहने से वैचारिक-पतन की सम्भावना रहती है।

स्त्रियों की बस्ती में रहने से उनकी वेशभूषा, हावभाव, रुप-सौन्दर्य, वार्ता-विनोद आदि के देखने-सुनने के प्रसंग आते रहते हैं। पशुओं की बस्ती में उनकी काम-चेष्टाएँ आदि देखने को मिलती हैं, जिससे मानसिक व शारीरिक पतन की संभावना रहती है।

सामान्यतया हर आत्मा निमित्तवासी है। अशुभ निमित्तों के संसर्ग से अच्छी-अच्छी आत्माओं के भी पतन की सम्भावना रहती है।

❀ सिंहगुफावासी मुनि कोशा वेश्या के कामगृह में चातुर्मास हेतु रहने के लिए गये...परन्तु उस कामगृह में रहे काम के आसनों के चित्रों को देखकर ही एकदम कामातुर बन गये थे।

कामातुर की गति बड़ी विचित्र है। कहा भी है-**'कामातुराणां न भयं न लज्जा।'** काम में आसक्त व्यक्ति को भय व लज्जा नहीं होती है। जब व्यक्ति कामातुर बन जाता है, तब उसे अपनी मर्यादा का ख्याल नहीं रहता है।

स्त्री, पशु व नपुंसक की बस्ती से दूर रहना-यह कोई कायरता नहीं है। परन्तु अपने व्रत के रक्षण के लिए इन नियमों का पालन करना एकान्त लाभकारी ही है।

हाँ, कसौटी की कोई पल आ जाय, किसी परिस्थितिवश ऐसी बस्ती में रहना पड़े तो जरूर अपने व्रत में स्थिर रहने का प्रयास करना चाहिए।

2) सादा वेष

जिस प्रकार हम जो कुछ दृश्य देखते हैं, उससे हमारा मन प्रभावित होता है, उसी प्रकार हम जो वस्त्र पहिनते हैं, उसका भी हमारे मन पर अत्यधिक प्रभाव पड़ता है।

❀ प्रसन्नचन्द्र राजर्षि को हिंसक विचारों से बचाने वाला साधु वेष ही था।

मरणासन्न अवस्था में रहे उदायन मंत्री के दिल में शुभ भाव की ज्योति को प्रकाशित करने वाला साधु वेष ही था।

वेष की तो अत्यधिक महिमा है । वेष भी हमारे विचारों को बनाता / बिगाड़ता है ।

पुलिस की वर्दी पहिनने के साथ ही व्यक्ति के हाव-भाव, भाषा व व्यवहार में बहुत कुछ परिवर्तन आ जाता है ।

अति कसे हुए वस्त्र पहिनने से व्यक्ति का मन भी कसा हुआ हो जाता है ।

ब्रह्मचर्य की नौ गुप्तियों में एक गुप्ति है-शारीरिक विभूषा का त्याग ।

बाह्य शारीरिक सौन्दर्य व सुन्दर वेशभूषा भी मन को आकर्षित करती है । जिस प्रकार ब्रह्मचारी को सात्त्विक व प्रमाणोपेत आहार लेना चाहिए, रसयुक्त व अधिक आहार ब्रह्मचर्यपालन में बाधक है, उसी प्रकार ब्रह्मचारी को सादी वेशभूषा पहननी चाहिए ।

स्नान करने से शरीर का सौन्दर्य खिलता है, अतः ब्रह्मचारी मुनि को द्रव्यस्नान का निषेध है । शरीर पर तैल-मालिश, केशसज्जा, आभूषण, अलंकार व भड़कीले रंग-बिरंगे वस्त्र पहिनने से कामुक विचार पैदा होते हैं और विजातीय तत्त्व के प्रति आकर्षण पैदा होता है ।

ब्रह्मचारी पुरुष को ऐसी कोई चेष्टा नहीं करनी चाहिए, जिससे उसके प्रति किसी स्त्री का आकर्षण हो और ब्रह्मचारिणी स्त्री को ऐसी कोई प्रवृत्ति नहीं करनी चाहिए, जिसके फलस्वरूप उसके प्रति किसी पुरुष का आकर्षण हो ।

ब्रह्मचारी को वेशभूषा इतनी सादगीपूर्ण होनी चाहिए कि विजातीय तत्त्व का उसके प्रति विशेष आकर्षण न रहे ।

3) एकान्त वार्तालाप न करें

ब्रह्मचर्य के साधक को एकान्त में स्त्री के साथ बातचीत नहीं करनी चाहिए ।

ब्रह्मचारी को तो स्त्री सम्बन्धी कथा-वार्तालाप का भी त्याग करना चाहिए । स्त्री के देह, रूप-सौन्दर्य, गति आदि सम्बन्धी विचार-विमर्श करना हितकारी नहीं है । मानव मन अत्यन्त ही चंचल है । ऊपर चढ़े हुए को नीचे गिरते लेश भी देर नहीं लगती है ।

स्त्रियों को एकान्त में धर्मोपदेश भी नहीं देना चाहिए। स्त्रियों के साथ बातचीत में विशेष रुचि नहीं लेनी चाहिए। कोई संयोगवश कुछ बात करनी भी पड़े तो अपनी दृष्टि नीची रखकर ही करनी चाहिए।

4) एक ही आसन पर न बैठें

मानवदेह औदारिक वर्गणा के पुद्गलों से बना हुआ है। इस देह में से प्रति समय अनन्त पुद्गल बाहर निकलते रहते हैं और प्रति समय अनन्त पुद्गलों का अपने शरीर में प्रवेश होता हैं। ये शुभ-अशुभ पुद्गल अपने मन को अत्यन्त ही प्रभावित करते हैं।

ब्रह्मचर्य व्रत के धारक को जहाँ पर स्त्री बैठी हो उस आसन पर दो घड़ी अर्थात् 48 मिनिट तक नहीं बैठना चाहिए, क्योंकि स्त्री के उठ जाने के बाद भी उसके शरीर में से निकले पुद्गल बैठने वाले के मन को प्रभावित करते हैं, इसी कारण अनन्तज्ञानी अरिहन्त परमात्माओं ने उस आसन पर बैठने का स्पष्ट निषेध किया है।

स्त्रियाँ जहाँ पर बैठी हुई हों, उनके पास में भी नहीं बैठना चाहिए क्योंकि उनके निकट बैठने से कामविकार सम्बन्धी विचारों की उत्पत्ति सम्भव है।

5) स्त्रियों के अंगोपांग न देखें

ब्रह्मचर्य के उपासक को स्त्रियों के अंगोपांगों को कभी घूर कर नहीं देखना चाहिए। स्त्रियों के मुख आदि को पुनःपुनः देखने से, उनके रूप-सौन्दर्य का पान करने से कामवासना को उत्तेजना मिलती है।

जिस प्रकार मध्याह्नकाल के सूर्य की ओर कोई अपनी दृष्टि स्थिर नहीं करता है, कदाचित् सूर्य की ओर दृष्टि चली जाय तो तुरन्त ही उस दृष्टि को खींच लिया जाता है, उसी प्रकार यदि भूल से किसी स्त्री के रूप पर दृष्टि पड़ जाय तो तुरन्त ही अपनी दृष्टि पुनः खींच लेनी चाहिए।

ब्रह्मचारी व्यक्ति को स्त्री के रूपदर्शन व स्त्री के अंगोपांगों के दर्शन से सदैव बचने का प्रयास करना चाहिए। स्त्रियों के रूप को राग भाव से देखने से काम को उद्दीप्त होते देर नहीं लगती है।

पाप का प्रवेश द्वार आँख है । आँख द्वारा रागपूर्वक स्त्री का रूपदर्शन करने से मन में विकार उत्पन्न होता है और मन कामविकार से ग्रस्त बनता है ।

अतः ब्रह्मचारी पुरुष को अपने ब्रह्मव्रत की सुरक्षा के लिए चक्षुइन्द्रिय पर अवश्य नियन्त्रण रखना चाहिए ।

6) पूर्वक्रीड़ा का स्मरण न करें

इस विश्व में कुछ महापुरुष ऐसे होते हैं, जो जन्म से शुद्ध होते हैं अर्थात् बाल्यकाल से ही अत्यन्त पवित्र व पावन जीवन जीने वाले होते हैं, ऐसी आत्माएँ तो आबालब्रह्मचारी होती हैं...परन्तु कुछ आत्माएँ जन्म से पावन नहीं होती हैं, वे आत्माएँ प्रारम्भ में कुसंग आदि के कारण उन्मार्गगामी बन गई होती हैं, परन्तु बाद में महापुरुषों के सम्पर्क से उनके जीवन में परिवर्तन की घड़ी आई होती है-फलस्वरूप वे लग्नजीवन के स्वीकार के बाद अथवा प्रौढ़ावस्था आदि में ब्रह्मव्रत की उपासक बनती हैं ।

मुख्यतया उन आत्माओं के लिए इस बाड़ का पालन अत्यन्त ही जरुरी है । जीवन की पूर्वावस्था में यदि स्त्री-संसर्ग आदि किया हो तो उसे पुनः याद नहीं करना चाहिए । परस्पर इस प्रकार का वार्तालाप आदि भी नहीं करना चाहिए कि जिसके फलस्वरूप पूर्व में की गई काम-क्रीड़ा आदि का स्मरण हो ।

7) संलग्न दीवाल में रहे दम्पती वाले स्थान का त्याग ।

जिस दीवाल की आड़ में दम्पती रहते हों, उस स्थान पर भी नहीं रहना चाहिए, क्योंकि पति-पत्नी के प्रेम भरे शब्दों का श्रवण भी विकार पैदा कर सकता है ।

8) प्रणीत आहार त्याग

विगइयों से रसपूर्ण बने भोजन का त्याग करना चाहिए । रसना की आसक्ति से विविध स्वादवाले तथा मादक भोजन करने से इन्द्रियों मे उत्तेजना पैदा होती है, अतः ऐसे भोजन का त्याग करना चाहिए ।

9) अतिभोजन त्याग

भूख से अधिक भोजन का त्याग करना चाहिए । अतिभोजन

मानसिक विकार एवं अन्य रोगों को भी जन्म देता है। अतः ब्रह्मचर्य के इच्छुक व्यक्ति को हमेशा भूख से कम भोजन करना चाहिए, एवं शारीरिक थकावट लगने के बाद ही सोना चाहिए।

ब्रह्मचर्य से बौद्धिक शक्ति का विकास

'ब्रह्मचर्य के पालन से मानवीय ऊर्जाशक्ति (वीर्य) का ऊर्ध्वगमन होता है, इसके फलस्वरूप बौद्धिक शक्ति का खूब विकास होता है।

कलिकालसर्वज्ञ **हेमचन्द्रसूरिजी म.** ने अत्यंत छोटी वय में भागवती दीक्षा अंगीकार की थी। विशुद्ध ब्रह्मचर्य के पालन एवं गुरुसेवा के बल से ही वे अपने अल्प जीवन में विराट् साहित्य का सर्जन कर सके। उन्होंने अपने जीवन में 3.5 करोड़ श्लोक प्रमाण संस्कृत साहित्य की रचना की थी। उन्होंने व्याकरण, काव्य, न्याय, दर्शन, योग, चारित्र आदि विविध विषयों पर पांडित्यपूर्ण साहित्य की रचना की थी। उनकी विराट् ज्ञान शक्ति के फल स्वरूप ही उन्हें **'कलिकालसर्वज्ञ'** का विरुद प्रदान किया गया था।

उनके गहन साहित्य का अध्ययन कर जर्मनी के प्रकांड विद्वान् हर्मन जेकोबी उन्हें Ocean of Knowledge ज्ञान का महासागर कहते थे।

यह सब उनके ब्रह्मचर्य का ही प्रभाव था।

अथर्ववेद में भी कहा है-**'ब्रह्मचर्येण वै विद्या'** ब्रह्मचर्य के पालन से विद्या व ज्ञान की प्राप्ति होती है।

एक-एक इन्द्रिय की आसक्ति का इतना अधिक कटु परिणाम है तो जो पाँचों इन्द्रियों के अधीन हो, उसकी क्या स्थिति होगी ?

इन इन्द्रियों की गुलामी अत्यंत ही खतरनाक है।

इन पाँचों इन्द्रियों में भी स्पर्शनेन्द्रिय को जीतना अत्यंत ही कठिन है। प्रत्येक जन्म में जीवात्मा ने शरीर धारण किया है...और उस शरीर के साथ कम से कम स्पर्शनेन्द्रिय तो अवश्य होती है। अनादि काल से स्पर्शनेन्द्रिय का समागम होने के कारण उसके संस्कार आत्मा में अत्यंत ही गाढ़ बने हुए हैं।

चौदह पूर्वधर जैसे महात्मा, मासक्षमण की उग्र तपश्चर्या करने वाले घोरतपस्वी महात्मा तथा विशुद्ध संयम का पालने करने वाले संयमी महात्मा भी स्पर्शनेन्द्रिय के वश होकर चारित्र धर्म से भ्रष्ट हो गए-ऐसे अनेक दृष्टांत शास्त्रों में निर्दिष्ट हैं ।

शास्त्रों में निर्दिष्ट ऐसे दृष्टांतों का वर्णन संयम में शिथिल बनने के लिए नहीं है । हमें ऐसा नहीं सोचना कि 'ऐसे संयमी तपस्वी महात्मा भी संयम का पालन न कर सके तो हमारी तो क्या ताकत है ?'

बल्कि ऐसे प्रसंगों के वर्णन से हमें यह शिक्षा लेने की है कि ऐसे तपस्वी व ज्ञानी महात्मा भी संयम के प्रति सावधान न रहे तो उनका पतन हो गया तो फिर यदि हम पूर्ण जागरूक न रहेंगे तो हमारी क्या दशा होगी ? इस प्रकार संयम-पालन व रक्षण के प्रति विशेष जागरूक और सावधान बनना है ।

आँख के दो दोष

जवानी में दृष्टिदोष और बुढापे में दोषदृष्टि ।

मानव को देखने के लिए जन्म से दो आँखें मिली हैं ।

जन्म के समय मानव-शिशु की आंखों में कितनी कोमलता, निर्मलता और पवित्रता होती है । बालक सबको प्यारा लगता है, क्योंकि उसका हृदय साफ है, उसकी आँखें निर्विकार है । उसके नेत्रों में दोष दृष्टि की मलिनता नहीं है ।

परन्तु वही शिशु जब धीरे-धीरे बड़ा होता जाता है, तब उसकी आँखें धीरे- धीरे रोग-ग्रस्त बनती जाती हैं । हाँ ! सभी मनुष्यों को आँख के ये रोग लागू हो ही जाते हैं, ऐसी बात नहीं है । जो बचपन से ही सावधान है, वे इन रोगों से बच जाते हैं और जो असावधान हैं, वे रोग-ग्रस्त बन जाते हैं ।

मानव शिशु जब यौवन के प्रांगण में प्रवेश करता है, तब उसकी आँखों में धीरे धीरे एक रोग फैलता जाता है और वह है-दृष्टिदोष का ।

जो आँखें पहले पवित्र थीं, निर्विकार थीं, उन आँखों में अब दृष्टिदोष की बदबू आने लगती है । समय रहते इस रोग का इलाज न

किया जाय तो धीरे धीरे रोग बढता जाता है और वह युवक इस रोग से बुरी तरह से ग्रस्त हो जाता है। वह रात और दिन इस रोग से पीड़ित हो जाता है। वह जहाँ भी जाएगा-उसकी आँखें स्त्री के रूपदर्शन की प्यासी बनेगी। उसे इस रूपदर्शन से लेश भी तृप्ति नहीं होती है, फिर भी उसकी आँखें उसका पान करती रहती हैं।

दृष्टि दोष से घायल व्यक्ति मल-मूत्र और हाड-मांस से भरपूर स्त्री की देहलता में नाना प्रकार की कल्पनाएँ करता है। वह उसके मुख को चन्द्र की उपमा देता है तो कभी कमल की।

दृष्टिदोष के इस भयंकर पाप ने अनेक नवयुवकों के जीवन को बरबाद कर दिया है।

मुझे याद आती है बिल्वमंगल की। वह भगवा वस्त्रधारी संत था। एक दिन भिक्षा हेतु शहर की ओर जा रहा था। अचानक उसकी दृष्टि पनघट पर पानी भर रही रूपवती युवा-कन्या पर पड़ी और वह स्तब्ध हो गया। टकटकी नजर से वह भोगी भ्रमर की भाँति उस कन्या के मुख कमल के रूप पराग का पान करने लगा।

किसी कवि ने ठीक ही कहा है, **'कौआ रात्रि में नहीं देखता है और उल्लू दिन में नहीं देखता है, परंतु कामान्ध व्यक्ति को तो न दिन में दिखाई देता है और न रात में।'**

उस कन्या को पता लग गया कि यह मेरे रुप का पिपासु बना है, अतः मार्ग-पतित उस संत को प्रतिबोध देते हुए वह बोल उठी, **'ओ महात्मा ! मेरी ओर टकटकी नजर से देखते हुए आपको शर्म नहीं आती ? इस पवित्र भगवा वेष को क्यों कलंकित कर रहे हो ?'**

कन्या के इन शब्दों का बिल्वमंगल पर जादुई असर हुआ। उसकी सुषुप्त आत्मा जाग उठी और उसी समय पश्चात्ताप की आग में उसका हृदय जलने लगा। अरे ! इन चर्मनेत्रों से ऐसा भयंकर कोटि का अपराध ! और उसी समय लोहे की सली से उसने अपनी दोनों आँखें फोड लीं।

काम का प्रवेश द्वार आँख है। वह आँख के द्वार से प्रवेश करता है और सीधा मन पर हमला करता है। मन यदि परास्त हो गया तो उसकी जीत हो जाती है और वह व्यक्ति को अपना गुलाम बना देता है।

* **दृष्टिदोष के पाप ने ही रूपसेन का पतन कराया था ।**
* **महाभारत और रामायण के भयंकर युद्धों के पीछे भी पर-स्त्री की आसक्ति ही मुख्य कारण थी ।**
* **वर्तमान युवा पीढी में दृष्टि दोष का पाप इतना अधिक व्यापक हो गया है कि इसका इलाज कठिन हो गया है ।**

  सचमुच ! जिसने अपने यौवन को बेदाग प्रसार कर दिया उसने अपने जीवन में वास्तविक सफलता हासिल की है ।
* **युवावस्था में दृष्टिदोष के पाप से बचने का अवश्य प्रयास करना चाहिए । इस दोष के नाश से युवक अपने भविष्य को उज्ज्वल बना सकता है ।**

युवावस्था का सबसे भयंकर दुर्गुण दृष्टिदोष है तो वृद्धावस्था का सबसे भयंकर दुर्गुण दोषदृष्टि है । वय की परिपक्वता के साथ आँखें धीरे-धीरे कमजोर होने लगती हैं वृद्धावस्था में **'दोषदृष्टि'** का रोग अधिक प्रबल हो जाता है और वह व्यक्ति हर व्यक्ति में भूलें देखता रहता है ।

कामातुराणां भयं न लज्जा

काम से पीड़ित व्यक्ति को न तो भय होता है और न ही अकार्य करते हुए लज्जा का अनुभव होता है ।

इलाची कुमार श्रेष्ठी-पुत्र था, उसके पिता श्रेष्ठी-कन्या के साथ उसका पाणि-ग्रहण कराने के लिए तैयार थे, परंतु एक नट कन्या के रूप में आसक्त बना इलाची कुमार अपनी इज्जत को भी भूल गया । एक नट कन्या को पाने के लिए वह अपने माता-पिता व परिवार को भी छोड़ने के लिए तैयार हो गया...श्रेष्ठी पुत्र होने पर भी नाट्य कला सीखने के लिए तैयार हो गया ।

काम की यह कैसी विचित्रता है !

कामातुर व्यक्ति अपने दुष्कृतों के परिणाम को सोचने के लिए अंधतुल्य होता है । जिस प्रकार अंधा व्यक्ति अपने सामने रहे खड्डे को भी नहीं देख पाता है, उसी प्रकार कामातुर व्यक्ति कामांधता के कारण भविष्य में आने वाले दुष्परिणामों को देखने में अंधा हो जाता है ।

शास्त्र में तीन व्यक्तियों को आँख होते हुए भी अंधा कहा है- **कामांध, क्रोधांध और लोभांध ।**

काम, क्रोध और लोभ में अंधे बने हुए व्यक्तियों के विवेक चक्षु पर आवरण आ जाता है । वह अपने भावी हित-अहित को सोचने में अंधा बन जाता है ।

युद्ध में विजेता बनना सरल है ।

कामविजेता बनना कठिन है ।

युद्ध के मैदान में तीर, तलवार, भाला, बंदूक आदि शस्त्रों को हाथ में लेकर दुश्मनों से लड़ना सरल है...उन दुश्मनों को परास्त करना भी सरल है, किंतु काम रूपी अंतरंग शत्रु को जीतना अत्यंत ही कठिन है ।

पवित्रता में बाधक तीन तत्त्व

धन की सुरक्षा तिजोरी में रही है । जहाँ-तहाँ रखने से उसके लूंटे जाने की संभावना रहती है । उसी प्रकार अपने जीवन की पवित्रता भी अपनी अमूल्य आत्म-संपत्ति है । किसी भी संयोग में उस पवित्रता का रक्षण अनिवार्य है ।

अपने जीवन की पवित्रता को समाप्त करने वाले ये तीन तत्त्व हैं । उनसे सदैव बचने की कोशिश करनी चाहिए ।

1. खराब स्थान :– जल का अपना कोई आकार नहीं है, उसे जिस भाजन में रखा जाता है, उसके अनुरूप उसका आकार ढल जाता है ।

जल का अपना कोई रंग नहीं है, जिस रंग के साथ उसे मिलाया जाता है, वैसा ही उसका रंग हो जाता है । बस, मानव मन भी जल की भाँति है । उसे जिस स्थान या वातावरण में रखा जाएगा, तदनुसार वह बन जाएगा ।

उपाश्रय के निकट रहनेवाले हाथी भी दयालु बनने के दृष्टांत इतिहास के पन्नों पर पढ़ने को मिलते हैं...तो इससे हम समझ सकते हैं कि बाह्य वातावरण से हमारा मन कितना अधिक प्रभावित होता है ।

अपने मन की पवित्रता के लिए हमें खराब स्थान से सदैव बचना चाहिए। जहाँ आस पास वेश्याएँ रहती हों, जहाँ आसपास के लोग दुराचारी हों...जहाँ बैठकर लोग गंदी बातें करते हो...ऐसे क्लब, होटल, सिनेमा, थियेटर आदि स्थानों से दूर ही रहना चाहिए, क्योंकि बारबार उन दृश्यों को देखने से हमारा मन उत्तेजित बने बिना नहीं रहता है।

2. खराब मित्र :– विष की प्याली जो नुकसान नहीं करती है, उससे अनेक गुणा नुकसान खराब मित्र की संगति से होता है। जो मित्र सदाचार का प्रेमी न हो...और उन्मार्गगामी हो...ऐसे व्यक्ति को अपना मित्र बनाते समय खूब विचार करना चाहिए।

चोर तो कदाचित् धन को ही ले जाएगा परंतु खराब मित्र का संग तो हमारे जीवन को ही बरबादी की ओर ले जायेगा।

3. अश्लील साहित्य :– साहित्य का भी अपने दिलो दिमाग पर खूब प्रभाव पड़ता है। अश्लील साहित्य हमारी सुषुप्त वासनाओं को जागृत किए बिना नहीं रहता है। आग के संपर्क से जैसे मोम पिघलने लगता है। उसी प्रकार अश्लील साहित्य की गंदी बातों को पढ़ने से अपना संयमित मन भी उत्तेजित हुए बिना नहीं रहता है, अतः अश्लील साहित्य के पठन-पाठन से सदैव बचना चाहिए।

बंदूक की गोली एक ही जीवन समाप्त करेगी, जबकि अश्लील साहित्य से जागृत बनी वासनाएँ हमारे अनेक जन्मों को बरबाद कर देगी।

ब्रह्मचर्य की सुरक्षा सबसे अधिक कठिन है

साधु के पाँच महाव्रतों में सबसे अधिक महत्व चतुर्थ ब्रह्मचर्य व्रत का ही है। **'ए व्रत जगमां दीवो मेरे प्यारे'** कहकर कवियों ने इस व्रत की महिमा का खूब-खूब गान किया है।

अनाज उत्पन्न करनेवाले खेत की सुरक्षा के लिए काँटों की बाड़ बनाई जाती है।

आम के फल से लदे वृक्षों की सुरक्षा के लिए तारों की बाड़ बनाई जाती है।

इसी प्रकार अन्य-अन्य व्रतों की अपेक्षा ब्रह्मचर्य व्रत की सुरक्षा के लिए शास्त्र में नौ बाड़ों का विधान किया गया है।

ब्रह्मचारी पुरुष को स्त्री, पशु व नपुंसक की बस्ती से दूर रहना चाहिए।

स्त्री के रूप-सौंदर्य संबंधी वार्तालाप का त्याग करना चाहिए।

स्त्री के अंगोपांग को स्थिर नजर से नहीं देखना चाहिए।

जिस स्थान पर स्त्री बैठी हो, उस स्थान पर पुरुष को 48 मिनिट तक नहीं बैठना चाहिए।

ब्रह्मचर्य व्रत स्वीकार करने के पूर्व स्त्री के साथ कामक्रीड़ा की हो तो उसे याद नहीं करना चाहिए।

ब्रह्मचर्य की इन नौ बाड़ों में स्त्री के दर्शन, स्पर्शन व स्मरण से दूर रहने के लिए छह छह वाडों का विधान किया गया है।

उसके बाद ब्रह्मचर्य में बाधक अतिरसप्रद आहार व अति आहार के त्याग की बात की गई है, क्योंकि रसयुक्त आहार, सुषुप्त कामवासना को जागृत करने में प्रबल निमित्त है।

उसके बाद विभूषा त्याग की बात की गई है। शरीर स्नान, तैल-मालिश, आकर्षक वस्त्र, आभूषण आदि भी विकारपोषक होने से उन सबका भी त्याग जरूरी है।

जैन साधु की आचार संहिता में स्नान-त्याग, केशलोच, रंगीन वस्त्र त्याग, आभूषण त्याग, अल्प मूल्य के मर्यादित वस्त्रों को धारण करना इत्यादि जो नियम हैं, उन सबका ध्येय भी ब्रह्मचर्य व्रत की सुरक्षा ही है।

यौवन वय में शील पालन कठिन है

जो व्यक्ति बड़ी कठिनाई से अपना जीवन निर्वाह कर पाता हो, उस व्यक्ति के लिए 'दान देना' कठिन है, उसी प्रकार युवावस्था में शील का पालन अत्यंत कठिन कार्य है। युवावस्था में काम का हमला अधिक होता है, अतः इस काम शत्रु को समाप्त करने के लिए सतत आत्मजागृति अत्यावश्यक है।

युवावस्था में शील पालन करना हो तो उस व्यक्ति को मौज शौक व विलासिता के साधनों का सर्वथा त्याग करना चाहिए और कठोर जीवन जीना चाहिए।

जीवन व्यवहार में जितनी अधिक सुकोमलता होती है, बाह्य अनुकूलताओं के सेवन की इच्छा रहती है, उतना ही इस व्रत का पालन कठिन हो जाता है ।

काम का उत्पत्ति स्थान मन है । मन में कामविकार पैदा ही न हो, अथवा उत्पन्न हुए विकार तुरंत नष्ट हो जायें, इसके लिए जीवन में स्वाध्याय का रस पैदा करना चाहिए । वैराग्य पोषक ग्रंथों का पुन:पुन: स्वाध्याय करने से मन को विकार मुक्त बनाया जा सकता है ।

स्त्री राग को तोड़ने के लिए प्रभु की भक्ति भी श्रेष्ठ उपाय है । भक्ति रस के अमृत का पान करनेवाले को स्त्रीदेह में अशुचि के दर्शन सुलभ हैं ।

(1) ब्रह्ममूर्ति

विक्रम की नौवीं शताब्दी का काल !! जिनशासन की अजोड़ प्रभावना करने वाले बप्पभट्टिसूरिजी महाराज ।

अत्यन्त लघुवय में भागवती दीक्षा को स्वीकार कर आपने आम राजा आदि को प्रतिबोध देकर जिनशासन का गौरव बढ़ाया था ।

एक बार आमराजा राजसभा में बैठा हुआ था...पूज्य बप्पभट्टिसूरिजी म. भी बिराजमान थे । उसी समय एक नृत्यांगना का नाच हुआ । आचार्यदेव पुस्तक के स्वाध्याय में लीन थे ।

अचानक उनकी आँख में कोई रजकण गिरा...उन्होंने अपनी आँख ऊँची की और उसे वस्त्र से साफ कर पुन: स्वाध्याय में लीन हो गये ।

आम राजा ने सूरिजी की इस चेष्टा को देख लिया और उसने मनोमन दूसरी ही कल्पना कर ली...``अहो ! आत्मज्ञानी महात्माओं के हृदय में भी रूपवती स्त्री का वास होता है । क्या वे भी स्त्री के रूपदर्शन की इच्छा करते होंगे ?''

इस प्रकार विचार कर आमराजा ने आचार्यदेव की परीक्षा करने का निश्चय किया ।

सभा विसर्जन के बाद उसने उस नर्तकी को बुलाकर कहा- **``तुझे आज पुरुषवेष में सूरिजी के पास जाना होगा और उन्हें विचलित करने का प्रयत्न करना होगा ।''**

नर्तकी ने राजा की बात में हाँ भर दी। रात्रि का समय हुआ।

रात्रि के एक प्रहर बाद आचार्य भगवन्त निद्राधीन होने की तैयारी कर रहे थे। चारों ओर शान्त वातावरण था...तभी उस नर्तकी ने पुरुषवेष में आचार्य भगवन्त के खण्ड में प्रवेश किया और उसके बाद आचार्य भगवन्त के निकट आकर उनके पैर दबाने लगी।

स्त्री के कोमल हाथ का स्पर्श होते ही आचार्य भगवन्त एकदम सावधान हो गये और बोले-**``तुम कौन हो और यहाँ कैसे आई हो ?''**

नर्तकी ने कहा-**``मैं आपके प्रेम में पागल बनी हूँ...आप मुझे स्वीकार करें।''**

``क्या तू इतनी मुग्धा है ? मैं ब्रह्मचारी हूँ। इसका तुझे पता नहीं है ?'' आचार्य भगवन्त ने कहा।

``योगीश्वर ! आप मेरे रूप को निहारे। मेरे यौवन की ओर नजर करे...मैं आपके चरणों में समर्पित हूँ...आप मेरा निवेदन स्वीकार करे।''

``मैं तेरे देह को आर-पार जान सकता हूँ। तेरा देह मल-मूत्र-हाड़-मांस की पुतली है उसमें राग करने जैसा कुछ भी नजर नहीं आता है।'' आचार्यश्री ने कहा।

``पुरुषों की हजारों आँखें जिसको पाने के लिए सदा तरसती हैं, ऐसी मैं सामने चलकर आई हूँ...आप मुझे इन्कार क्यों करते हो ? आप मेरे रूप को तो देखें।'' –वेश्या ने कहा।

``अरे ! तेरा रुप तो नश्वर है। सच्चा रूप तो आत्मा का है। आत्मदर्शन के बाद मुझे तो इस संसार में कोई पदार्थ आकर्षक नहीं लगता है। तू चली जा। तेरा प्रयत्न कभी सफल नहीं हो सकता !'' सूरिजी ने कहा।

``योगीश्वर ! अनुकूल वय...अन्धकार व एकान्त स्थल का एक साथ सुभग संयोग हुआ है...बस, मेरी एक ही प्रार्थना है...आप एक बार मुझे स्वीकार करें'' इस प्रकार कहकर उस स्त्री ने सूरिजी को विचलित करने के लिए अनेक प्रकार के हावभाव किये। परन्तु योगसाधना में लयलीन आचार्यदेव के मन में लेश भी विकार पैदा नहीं हुआ। आखिर नर्तकी को हार खानी पड़ी और वह मौन होकर वहाँ से चली गयी।

दूसरे दिन राजा के पूछने पर वह बोली-

'नवनीतकल्पोऽयं लोकः, पाषाणकल्पोऽयं तव गुरुः ।

न नागाङ्गनाभिः न देवाङ्गनाभिः चालयितुं शक्यते । अस्मादृशां मानुषीणां तु का कथा ?'

``हे राजन् ! हमारी वासना के आगे समग्र पुरुष जाति मक्खन के समान है, परन्तु तुम्हारे गुरु तो पत्थर समान प्रतीत होते हैं जिन्हें नागलोक की कन्याएँ अथवा देवांगनाएँ भी चलित करने में समर्थ नहीं हैं तो फिर मृत्युलोक की हम जैसी स्त्री की तो क्या ताकत है ?''

नर्तकी के मुख से इन वचनों को सुनकर आमराजा का हृदय आचार्यदेव के प्रति नतमस्तक हो गया । धन्य हो दृढ़व्रतधारी बप्पभट्टिसूरि को ।

वन्दना ! वन्दना !! वन्दना !!!

इतिहास के पृष्ठों पर स्वर्णाक्षरों से अंकित उन पवित्रतम महापुरुषों के पवित्र जीवन का जब विहंगावलोकन करते हैं, तब अपना हृदय उन महान् विभूतियों के चरणों में सहजता से झुक जाता है ।

आओ ! हम सब मिलकर प्रातःकाल की इस मधुरवेला में अपने भावचक्षुओं से उन पवित्र आत्माओं के दर्शन कर अपने आपको पावन करें ।

अपनी आँखें बन्द कर एक मानसिक कल्पना के द्वारा उन महापुरुषों के दर्शन करें और उनके पवित्र जीवन के अमिट प्रसंगों को दिल व दिमाग के द्वारा ताजा करने का प्रयास करें ।

ये देखो-आदिनाथ परमात्मा

इस अवसर्पिणी काल के तीसरे आरे के अन्तिम भाग में नाभि कुलकर की पत्नी मरुदेवा माता की कुक्षी से जिनका जन्म हुआ था, जो इस भरतक्षेत्र के आद्य राजा, आद्य श्रमण और आद्य तीर्थंकर थे । 83 लाख पूर्व वर्ष के गृहस्थ जीवन का परित्याग कर जिन्होंने श्रमणजीवन स्वीकार किया था । श्रमणजीवन के स्वीकार के बाद एक हजार वर्ष तक अनुकूल-प्रतिकूल उपसर्गों को समभाव से सहनकर जिन्होंने केवलज्ञान प्राप्त किया था ।

केवलज्ञान की प्राप्ति के बाद जगत् के सर्वजीवों के कल्याण के लिए धर्मशासन की स्थापना कर जिन्होंने सर्वविरति और देशविरति धर्म का उपदेश दिया था ।

``ब्रह्मचर्य आत्मधर्म है और इसी की साधना से आत्मस्वरुप की प्राप्ति हो सकती है ।'' इस प्रकार जगत् के चौक में सर्वप्रथम ब्रह्मचर्य धर्म की उद्‌घोषणा करने वाले आद्य तीर्थंकर आदिनाथ प्रभु के चरणों में हम भावपूर्वक नमस्कार करते हैं ।

ये देखो-भरत महाराजा

जो आदिनाथ प्रभु के आद्य पुत्र और इस भरतक्षेत्र के आद्य चक्रवर्ती थे । छह खंड के बाह्यवैभव के अधिपति होने पर भी, आरिसा भवन में शरीर की अनित्यता को आत्मा से भावित करते हुए जिन्होंने केवलज्ञान प्राप्त किया था ।

सचमुच, **वे भोगी के वेष में कमल की भाँति निर्लिप्त एक अनासक्त योगी थे ।** वे सदैव ब्रह्मस्वरूप में लीन रहते थे । इसी के फलस्वरूप अत्यल्प प्रयास से ही उन्होंने कर्मों की मजबूत श्रृंखलाओं को सहजता से तोड़ डाला था ।

योगी के वेष में रहे महान् ब्रह्मचारी भरत सम्राट् के चरणों में कोटि-कोटि वन्दन हो ।

ये देखो-गिरनार तीर्थाधिपति श्री नेमिनाथ प्रभु

जो बालब्रह्मचारी थे । लग्न-जीवन के स्वीकार के लिए माता-पिता एवं कृष्ण वासुदेव आदि ने भरसक प्रयत्न किये थे । श्रीकृष्ण की मुख्य रानियों के आग्रह से नेमिकुमार के मौन को ही लग्न की सम्मति समझकर समुद्रविजय-कृष्ण आदि ने नेमिकुमार के लग्न महोत्सव का आयोजन किया था ।

परन्तु लग्न-प्रसंग पर इकट्ठे किए पशुओं की करुण चीत्कारों को सुनकर जो लौट आये थे...और हिंसात्मक अब्रह्म का सर्वथा त्याग कर गिरनार पर्वत पर जाकर जिन्होंने महाभिनिष्क्रमण किया था, ऐसे बालब्रह्मचारी नेमिनाथ प्रभु के चरणों में कोटि-कोटि वन्दन हो ।

ये देखो-विजय सेठ और सेठानी

परस्पर लग्न-जीवन स्वीकार के पूर्व ही जिन्होंने क्रमश: कृष्ण व शुक्ल पक्ष में ब्रह्मचर्यपालन का संकल्प कर लिया था। योगानुयोग उन दोनों के बीच ही पाणिग्रहण का संबंध स्थापित हो गया। दैहिक सुखों के प्रति पूर्ण निरपेक्ष बने विजय सेठ और सेठानी ने अपनी ग्रहण की गई प्रतिज्ञा का मन-वचन और काया से अखण्ड पालन किया और जगत् के सामने गृहस्थ जीवन में महान्-ब्रह्मचर्य का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण प्रस्तुत किया।

कोटि-कोटि नमस्कार हो, उन पुण्यवन्त आत्माओं को।

ये देखो-आबाल ब्रह्मचारी भीष्म पितामह को

महाभारत की विराट् कथा में जो प्रारम्भ से लेकर अन्त तक छाये हुए नजर आते हैं, ऐसे गंगा पुत्र गांगेय ने अपने पिता की मनोकामना को पूर्ण करने के लिए अपने समस्त भौतिक सुखों का परित्याग कर आजीवन ब्रह्मचर्यव्रत स्वीकार किया था। उसी समय उनकी भीष्म प्रतिज्ञा से प्रभावित होकर देवताओं ने उन पर पुष्पवृष्टि की थी।

अन्त में वे भागवती प्रव्रज्या स्वीकार कर आत्मकल्याण के पथ पर गतिमान बने थे। ऐसी पवित्र आत्मा को कोटि-कोटि वन्दन हो।

ये देखो-बालब्रह्मचारी जंबुकुमार

यौवन के प्रांगण में प्रविष्ट, अपने माता-पिता की इकलौती संतान, जंबुकुमार ने सुधर्मास्वामी भगवन्त की धर्मदेशना का अमृतपान किया और उसी समय उन्होंने आजीवन ब्रह्मव्रत स्वीकार कर लिया।

माता-पिता ने लग्न के लिए जब अतिआग्रह किया तब **''मैं लग्न के दूसरे दिन ही दीक्षा स्वीकार करूंगा।''** इस शर्त पर जंबुकुमार ने आठ कन्याओं के साथ पाणिग्रहण किया। 99 करोड़ स्वर्ण मुद्राओं के अधिपति जंबुकुमार ने लग्न जीवन की पहली ही रात में अपनी आठ पत्नियों को धर्म-बोध दिया और उन्हें भी प्रव्रज्या के पावन पथ पर चलने के लिए तैयार कर दिया।

इतना ही नहीं, जंबुकुमार और उसकी पत्नियों के वार्तालाप को

सुनकर चोरी के लिए आया प्रभव चोर भी प्रतिबुद्ध हो गया और उसने भी अपने 500 साथियों सहित जंबुकुमार के साथ दीक्षा अंगीकार करने का संकल्प कर लिया । जंबुकुमार अपने माता-पिता, अपनी आठ पत्नियों और उनके माता-पिता तथा 500 चोरों के साथ प्रव्रजित हो गये ।

जंबुकुमार की ब्रह्मचर्य-साधना ने 526 की सुषुप्त चेतना को जागृत किया । कोटि-कोटि वन्दन हो जम्बुस्वामी के चरणों में ।

ये देखो-सुदर्शन सेठ

अभयारानी ने उनको विचलित करने के लिए आकाश-पाताल एक कर दिया था किन्तु सुदर्शन सेठ अपनी व्रत-मर्यादा से लेश भी चलित नहीं हुए थे । अन्त में हताश बनी अभया ने उन पर बलात्कार का आरोप लगाया और राजा ने उन्हें फाँसी की सजा दी...परन्तु इस धीरव्रती सुदर्शन सेठ के शील के प्रभाव से शूली भी सिंहासन बन गई । वन्दन हो इस देश के पवित्र पुरुषोत्तम को ।

ये देखो-स्थूलभद्र महामुनि

अपने गृहस्थ जीवन में स्थूलभद्र कोशा वेश्या के यहाँ 12 वर्ष तक रहे थे । एक छोटे से निमित्त को पाकर संसार के समस्त भोगसुखों को तिलांजलि देकर वे ब्रह्मचर्य के महान् उपासक बन गये । उसके बाद उन्होंने कोशा वेश्या के भवन में चातुर्मास किया । वय, ऋतु, भोजन आदि सब कुछ अनुकूल होने पर भी उनके रोम में लेश भी विकार उत्पन्न नहीं हुआ । उनको पतित करने के लिए कोशा ने अपने सब प्रयत्न कर लिये, परन्तु वह निष्फल रही । आखिर वह भी व्रतधारी श्राविका बन गई ।

अपनी ब्रह्म-निष्ठा के कारण 84 चौबीसी तक इतिहास के पन्नों पर अंकित रहने वाले स्थूलभद्र मुनीश्वर को कोटि-कोटि वन्दन हो ।

ये देखो-वज्रबाहु मुनि

रामचन्द्रजी के पूर्वजों पर दृष्टिपात करने पर वज्रबाहु का पवित्र चरित्र हमारे सामने आ खड़ा होता है । यौवन की दहलीज पर जिन्होंने

अभी कदम ही उठाया था, नागपुर के महाराजा की पुत्री मनोरमा के साथ पाणि-ग्रहण कर अभी अयोध्या की ओर लौट ही रहे थे कि बीच मार्ग में ही अपने साले उदयसुन्दर द्वारा मजाक में कहे गये शब्दों से प्रेरित होकर तत्क्षण चारित्र के पथ पर निकल पड़े थे।

एक क्षणपूर्व जिन भोगों के लिए लालायित थे, दूसरे ही क्षण एक कर्मवीर की भाँति वे उन भोगों का वमन भी कर सके।

वन्दन हो महामुनि के पवित्र चरणों में।

इधर देखो-युगप्रधान वज्रस्वामी को

अत्यन्त कम उम्र में प्रव्रज्या अंगीकार करने वाले ब्रह्मव्रत के महान् उपासक वज्रस्वामी जी। उनके अद्‌भुत रूप से आकर्षित होकर धनावह सेठ की पुत्री, रुक्मिणी ने उन्हीं के साथ पाणिग्रहण का संकल्प किया था...परन्तु क्या सूत के कच्चे धागों से हाथी को बाँधा जा सकता है ? वज्रस्वामी ने देह की बीभत्सता का इतना सुन्दर वर्णन किया कि वह रुक्मिणी भी त्यागमार्ग की उपासिका बन गई।

धन्य हो ऐसे युगप्रधान महर्षि को।

इधर देखो-गुणसागर को

स्वयं की इच्छा न होते हुए भी माता-पिता के अतिआग्रह के वश होकर जिन्होंने लग्नजीवन के लिए सम्मति दी थी, परन्तु उनका अन्तर्मन तो मुक्तिकन्या को पाने के लिए ही लालायित था...इसके फलस्वरूप स्वयंवर मण्डप में ही वे भावना के शिखर पर चढ़ गये और तत्क्षण कैवल्य लक्ष्मी के भोक्ता बन गये। बाहर से ग्रन्थि (लग्नग्रन्थि) का स्वीकार होने पर भी वे भीतर से कितने निर्ग्रन्थ बन चुके थे ! ब्रह्मचर्य के उपासक मुनिरत्न को अनन्त-अनन्त वन्दना।

संत तुलसीदास अपनी पत्नी में अत्यंत ही आसक्त थे। एक दिन पत्नी पीहर चली गई तो तुलसीदास भी वहां पहुंच गए। अचानक आए अपने पति को देख रत्नावली ने कहा,

``अस्थि-चरम मम देह में, या में जैसी प्रीति !
होत यदि रघुनाथ से, तो नहीं होत भव भीति ॥''

हाड-मांस से भरे हुए इस देह में आपको जैसी प्रीति है, इतनी प्रीति प्रभु से की होती तो आप इस भयंकर संसार को पार कर देते ।

अपनी पत्नी के इस ठपके को सुनकर तुलसीदासजी जागृत हो गये और सदा के लिए उन्होंने स्त्रीसंग का त्याग कर दिया ।

❀ ❀ ❀ ❀ ❀ ❀

``ओ मूर्ख ! गंदगी के ढेर को देखकर तू अपनी नाक-भौंह सिकोडता है, परंतु आश्चर्य है कि स्त्री का देह अशुचि का भंडार होने पर भी तू उससे अनुराग करता है । यह कितने आश्चर्य की बात है ?''

हर व्यक्ति गंदगी से दूर रहने को कोशिश करता है । गंदगी में पैर नहीं रखता है, अपने हाथों से उसका स्पर्श नहीं करता है । परंतु वही व्यक्ति स्त्री देह के पीछे पागल बनता है, यह मोहांधता नहीं तो और क्या है ?

स्त्री का संग इस भव में भी एक जाल खड़ा करता है और परभव में भी आत्मा को दुर्गति में ले जाता है ।

• शादी के बाद तत्काल श्वसुरगृह की ओर जा रही लड़की को रोती हुई देखकर एक बालक ने पूछा, **'यह लड़की क्यों रो रही है ?'**

किसी ने जवाब दिया, **'शादी हुई है इसलिए...।'**

तत्काल बालक ने दूसरा प्रश्न किया, **``शादी तो इस लड़के की भी हुई है, वह क्यों नहीं रो रहा है ?''**

जवाब मिला, **'यह लड़की तो श्वसुरगृह जाकर चुप हो जाएगी, उसके बाद जिंदगी भर तो इस लड़के को ही रोना है ।'**

शादी के बाद व्यक्ति का संसार कितना बढ़ जाता है, यह किसी से छिपा नहीं है ।

शादी के पहले सिर्फ अकेला था, इतनी ही चिंता थी । शादी की, तो एक के दो हो गए । पत्नी की पूरी जवाबदारी सिर पर आ गई । शादी की...अब बाल-बच्चे होंगे । उनकी पूरी जवाबदारी सहन करने में व्यक्ति अपने बहुमूल्य जीवन को ही गँवा देता है ।

इसलिए जिसे शीघ्र कल्याण करना हो उसे स्त्री के जाल में नहीं फँसना चाहिए और कदाचित् फँस गए हो तो यथाशीघ्र उस जाल से मुक्त बनने का प्रयास करना चाहिए ।

ब्रह्मचर्य-पालन में सहायक तत्त्व

1. दृढ़ मनोबल : वास्तव में काम का मुख्य उत्पत्ति स्थान **'मन'** ही है। मन में विकार उत्पन्न होने के बाद ही वह विकार वाणी व काया में परिणत होता है। कमजोर मन सामान्य कुनिमित्तों को पाकर भी कामातुर बन जाता है, परन्तु जिसके पास दृढ़ मनोबल है वह व्यक्ति अशुभ निमित्तों के बीच भी अपनी चित्तवृत्तियों को बाहर जाने नहीं देता है। ब्रह्मचर्यपालन के लिए दृढ़ मनोबल अत्यंत आवश्यक है। दृढ़ मनोबली ही विकट प्रसंगों में आत्मसन्तुलन रख सकता है। कमजोर मन का मानव तो तुरन्त ही प्रवाह की दिशा में बहने लग जाता है।

2. मंत्र जाप : मन का रक्षण करे वह मंत्र कहलाता है। जहाँ-तहाँ भटक रहे अपने मन को मंत्र द्वारा केन्द्रित करने का प्रयास करना चाहिए। नमस्कार महामंत्र अथवा नेमिनाथ प्रभु आदि के मंत्र में अपने मन को स्थिर करने से मन के अशुभ विचार स्वतः दूर हो जायेंगे, फलस्वरूप ब्रह्मचर्य-पालन में पूर्ण सुविधा रहेगी।

काम का उत्पत्ति स्थान मन है। मन को वश में करने के लिए मंत्र की आवश्यकता रहती है।

एकाग्रता पूर्वक नमस्कार महामंत्र आदि के जाप द्वारा अपने मन को वशीभूत किया जा सकता है और इसके फलस्वरुप मन में उठनेवाले कामविकारों को नष्ट किया जा सकता है।

बालब्रह्मचारी महापुरुषों का नाम भी मंत्र स्वरुप माना गया है। महान् ब्रह्मचारी पुरुषों के नाम का जाप करने से विकार की वासनाएँ स्वतः शांत हो जाती हैं।

'पातंजल योगदर्शन' का सूत्र है-**'ब्रह्मचर्य-प्रतिष्ठायां वीर्यलाभः-** ब्रह्मचर्य की प्रतिष्ठा में वीर्यलाभ रहा हुआ है।

स्त्रीसंग में वीर्य का नाश रहा हुआ है और ब्रह्मचर्य के पालन में वीर्यरक्षा रही हुई है।

वीर्य तो शरीर का राजा है। राजा मर जाय तो प्रजा की हालत खराब हो जाती है।

क्रोध से खून जलता है और वासना से वीर्य का नाश होता है ।

3. आत्म-ध्यान व चिंतन : आत्मा स्वयं निर्विकार चैतन्य स्वरुप है । अवकाश के समय में आत्मा के शुद्ध चैतन्य स्वरूप का ध्यान करने से मन की अशुभ वृत्तियाँ विलीन हो जाती हैं । **``अपनी आत्मा में ही निर्विकार चैतन्य स्वरुप परमात्मा छिपे हुए हैं ।''** इस प्रकार की आत्मजागृति व चिन्तन से ब्रह्मचर्य पालन में अपूर्व बल मिलता है ।

4. शुभ प्रवृत्ति : काम का औषध काम । कहावत है Empty Mind is Devils' workshop खाली दिमाग शैतान का घर है । ब्रह्मचर्य-पालन के लिए अपने तन-मन को सतत शुभ प्रवृत्तियों में जोड़े रखना चाहिए । क्योंकि अवकाश मिलते ही तन-मन अनादि के कुसंस्कारों के कारण गन्दगी में हाथ डालने के लिए तैयार हो जाते हैं ।

इस सम्बन्ध में एक छोटा सा प्रसंग याद आ जाता है । एक बार एक सेठ ने अपनी साधना के द्वारा एक भूत को वश में कर लिया । भूत ने कहा **``काम बताओ ।''**

सेठ ने कहा, **``मकान बना दो ।''**

भूत ने तुरन्त ही मकान तैयार कर दिया । सेठ जो भी काम भूत को सौंपता, भूत वह काम तुरन्त ही पूरा कर देता ।

अब सेठ के पास कोई काम नहीं बचा । भूत ने कहा **``काम बताओ नहीं तो तुम्हें खा जाऊंगा ।''**

सेठ चिन्ता में पड़ गया । आखिर मित्र की सलाह से उसने भूत को कहा-**``यहाँ एक खम्भा गाड़ दो ।''**

भूत ने तुरन्त ही खम्भा गाड़ दिया । फिर सेठ ने कहा **``अब जब तक दूसरा काम नहीं बतलाऊँ तब तक इस खम्भे पर चढ़ो उतरो ।''**

सेठ के इस आदेश को सुनकर भूत एकदम फँस गया ।

भूत ने कहा **``अच्छा, मुझे ऐसी सजा मत करो । अब जब भी मुझे याद करोगे मैं हाजिर हो जाऊंगा ।''**

सेठ खुश हो गया ।

मानव का मन भी अत्यन्त चपल है । सतत प्रवृत्ति में रखकर ही

उसे अशुभ वृत्तियों से बचाया जा सकता है। अतः अपने मन को सतत शुभ प्रवृत्तियों में जोड़े रखो, जिससे ब्रह्मचर्य का पालन सुगम बन सकेगा।

5. स्वाध्याय : हम जो कुछ भी अच्छा-बुरा पढ़ते हैं, उसका अपने मन पर खूब-खूब प्रभाव पड़ता है। अतः अपने मन को अशुभ विचारों व वृत्तियों से मुक्त करने के लिए सतत शास्त्र स्वाध्याय में लीन रहना चाहिए।

प्रभु महावीर परमात्मा ने इसी कारण श्रमण-श्रमणियों के लिए प्रतिदिन पाँच प्रहर स्वाध्याय की आज्ञा फरमाई है। सतत शास्त्र स्वाध्याय में लीन रहने से अब्रह्म के विचार मन को स्पर्श नहीं करते हैं। मन शुद्ध बनता जाता है।

6. सात्त्विक आहार : तामसी व राजसी खुराक अपने मन को भी विकृत बनाता हैं अतः उन अनर्थों से बचने के लिए सदैव सात्त्विक खुराक लेना चाहिए।

7. ऊणोदरी : (अल्पाहार) सादा भोजन भी कभी ठूंस ठूंस कर नहीं करना चाहिए। अति भोजन भी काम को उत्पन्न करता है अर्थात् विशिष्ट तप न कर सके तो भी प्रतिदिन ऊणोदरी का तप अवश्य करना चाहिए।

8. पाक्षिक उपवास : आलोचना के रुप में पन्द्रह दिन में एक उपवास करने से आत्मशुद्धि के साथ-साथ शरीरशुद्धि भी हो जाती है। प्रतिदिन के भोजन के जो मलांश नाड़ियों में एक हो गये हों तो वे भी उपवास द्वारा नष्ट हो जाते हैं। उपवास द्वारा आत्मा के समीप रहने का अवकाश मिलता है।

9. रात्रिभोजन-त्याग : ब्रह्मचारी को रात्रि में भोजन नहीं लेना चाहिए। यदि शक्य हो तो दिन में भी एक ही बार मध्याह्न में भोजन लेना चाहिए। यह शक्य न हो और शाम को भोजन लेना पडे तो शाम को हल्का भोजन लेना चाहिए। संध्या के भोजन व शयन के बीच 3-4 घंटों का अन्तर जरुरी है। देर रात्रि में भोजन के बाद तुरन्त सोना पड़ता है, जिससे ब्रह्मचर्य को नुकसान होता है और शरीर में अनुचित विकृति पैदा होती है।

10. उचित श्रम (व्यायाम) : ब्रह्मचर्य पालन के लिए शरीर का उचित श्रम जरूरी है। भोजन के साथ यदि उचित श्रम न हो और ऐसे ही पड़े रहते हों तो शरीर में मोटापा आदि आ जाता है और व्यक्ति के विकृत मैथुन का योग बनता है।

श्रमण जीवन की दैनिक समस्त क्रियाओं को योग्य आसन, मुद्रा आदि द्वारा किया जाय तो शरीर को आवश्यक श्रम स्वतः मिल जाता है। जैन दर्शन के प्रत्येक अनुष्ठान के साथ भिन्न-भिन्न आसन, मुद्रा का योग भी जुड़ा हुआ है। वह क्रिया अनुष्ठान उसी आसन, मुद्रा में करने से शरीर को आवश्यक श्रम मिल जाता है। पाद-विहार, गोचरी हेतु परिभ्रमण, स्थण्डिल भूमि गमन आदि-आदि योग उचित श्रम के ही अंग हैं।

वैज्ञानिक साधनों की अभिवृद्धि के साथ-साथ मनुष्य का शारीरिक श्रम दिन-प्रतिदिन घटता जा रहा है, इसके फलस्वरूप शारीरिक श्रम का अभाव होने से शरीर में विकृति पैदा होती है। प्राणायाम, शीर्षासन, सिद्धासन, पर्यंकासन, पद्मासन आदि के द्वारा भी योग्य श्रम प्राप्त किया जा सकता है।

10. नियमित व मर्यादित निद्रा : शारीरिक श्रम के निवारण के लिए निद्रा की भी आवश्यकता रहती है। निद्रा से क्षय हुई ऊर्जा का पुनः संचय होता है। ब्रह्मचारी की निद्रा नियमित होनी चाहिए। देर रात्रि तक जगने से और अनियमित रुप से नींद लेने से शरीर का सन्तुलन टूटता जाता है।

वास्तव में रात्रि के प्रथम प्रहर बाद सो जाना चाहिए और सूर्योदय से दो मुहूर्त पूर्व अर्थात् ब्राह्ममुहूर्त में निद्रा त्याग देनी चाहिए। कहा है:-

प्रथम प्रहर में सब कोई जागे, दूसरे प्रहर में भोगी।
तीसरे प्रहर में तस्कर जागे, चौथे प्रहर में योगी।।

परमात्मा के साथ अनुसन्धान करने के लिए रात्रि का अंतिम प्रहर अत्यन्त श्रेष्ठ है अर्थात् ब्रह्म मुहूर्त में जगकर परमात्मा के नाम-जाप-ध्यान आदि द्वारा परमात्मा के साथ सम्बन्ध जोड़ने का प्रयास करना चाहिए।

11. शारीरिक आवेग को नहीं रोके : मल, मूत्र आदि जो

शारीरिक आवेग हैं, उन्हें रोकने का प्रयास नहीं करना चाहिए। उन्हें रोकने से नुकसान होता है।

12. अशुभ वातावरण से दूर रहें : नाटक, सिनेमा, टी.वी., वीडियो तथा अश्लील साहित्य आदि से एकदम बचकर रहें। उन निमित्तों को पाकर पतन होते देर नहीं लगती है।

13. शारीरिक श्रृंगार न करें : ब्रह्मचारी का जीवन अत्यन्त सादगीपूर्ण होना चाहिए। तैल, इत्र आदि सौन्दर्य प्रसाधनों के प्रयोग से भी काम-विकार को उत्तेजना मिलती है। अतः ब्रह्मचारी को शारीरिक शणगार, भड़कीले व तंग वस्त्र व फैशनेबल वस्तुओं के परिभोग से सदैव दूर रहना चाहिए।

14. शयन गृह : ब्रह्मचारी को स्त्री आदि से रहित स्वतंत्र शयनगृह में सोना चाहिए। सोने के लिए बिस्तर भी अत्यन्त कोमल व मुलायम नहीं होना चाहिए। शयनगृह में पवित्र महापुरुषों के ही तैल चित्र अंकित होने चाहिए, जिन्हें देखकर हमारे मन में भी शुभ भाव पैदा हों।

15. एकांत त्याग : अपेक्षा से एकान्त लाभकर भी है और हानिकर भी। राम और रमा दोनों का ध्यान एकान्त में ही होता है। एकान्त में ही कान्त की प्राप्ति होती है। राम और काम दोनों से मिलन एकान्त में ही होता है। इन सब बातों से स्पष्ट है कि जिसका मन स्वाधीन है, ऐसे साधक के लिए एकान्त लाभकारी है और जिसका मन स्वाधीन नहीं है ऐसे व्यक्ति को एकान्त मिलने पर उसका मन गंदे विचारों में चढ़ जाता है। ऐसे व्यक्ति को ज्येष्ठ पुरुषों के सान्निध्य में ही रहना चाहिए। माता-पिता व गुर्वादि के सान्निध्य में रहने से अशुभ विचारों से पूर्णतया बचा जा सकता है।

लज्जा गुण के कारण दूसरे व्यक्ति की उपस्थिति भी व्यक्ति को पाप करने से बचा देती है क्योंकि दूसरों की उपस्थिति में पाप का भय पैदा होता है। इसी नियम के अनुसार श्रमण जीवन में एकाकी विहार का निषेध है और गुर्वादि के सान्निध्य में ही बैठने का विधान है।

16. रुचिपूर्ण सर्जन में लीन रहो : मन को कुछ-न-कुछ काम देना जरूरी है। अतः अपने मन को वशीभूत करने के लिए अपनी

अभिरुचि का काम उसे सतत सौंप देना चाहिए। अपने रुचिपूर्ण सर्जन में लीन मन इधर-उधर भटकेगा नहीं।

स्तुति-सर्जन में लीन शोभनमुनि को यह पता ही नहीं चला कि उनके पात्र में किसी ने पत्थर रख दिया है।

भामती टीका के सृजन में लीन वाचस्पति मिश्र इस बात को भी भूल चुके थे कि वे विवाहित हैं।

साहित्य, काव्य, स्तुति, गीत, कला आदि में लीन मन अन्य विकृत विचारों से मुक्त बन जाता है। चित्रकला में लीन माईकल एंजेलो को किसी ने विवाह की सलाह दी तो वे बोले, ``चित्रकला मेरी ऐसी सहचरी है जो किसी सपत्नी के अस्तित्व को सहन नहीं कर सकती।''

इससे स्पष्ट है कि यदि मन किसी रसप्रद सृजन में लीन हो तो किसी प्रकार के अशुभ विचार मन को छू नहीं सकते।

17.आत्म-स्वरुप विचार : निश्चय दृष्टि से देखा जाय तो आत्मा न पुरुष है और न स्त्री। यह स्त्री है, यह पुरुष है यह तो दैहिक धर्म है। स्त्री व पुरुष दोनों के देह में रही हुई आत्मा तो शुद्ध चैतन्य स्वरूप ही है। प्रेम तो आत्मा से होना चाहिए क्योंकि वह सहज है। देह से प्रेम तो औपाधिक है। मैं देह नहीं किन्तु आत्मा हूँ। देह के धर्म मेरे वास्तविक धर्म नहीं हैं। अतः दैहिक धर्मों में आकर्षित होना केवल अज्ञानता ही है। इस प्रकार आत्म स्वरूप का चिन्तन करने से भी आत्मा विकार मुक्त बनती है और ब्रह्मचर्य की साधना सुगम बनती है।

18. व्रत स्वीकार (प्रतिज्ञाग्रहण) : प्रतिज्ञा के स्वीकार से मनोबल मजबूत बनता है। जीवन पर्यन्त अथवा वर्ष में अमुक दिनों में ब्रह्मचर्य पालन का नियम कर अपने मन को अशुभ विचारों से रोक सकते हैं।

19. तप : ब्रह्मचर्य की साधना में तप धर्म का विशेष महत्त्व है। तप की साधना से भीतर की वासनाएँ बाष्पीभूत हो जाती हैं। काम-क्रोध आदि विकार तप से जलकर भस्मीभूत हो जाते हैं। शर्त यह है कि तप विवेकपूर्वक होना चाहिए। बारबार भोजन करने से, अतिमात्रा में आहार लेने से एवं मादक भोजन करने से कामविकार जागृत होते हैं, अतः साधक को अपने दैनिक जीवन में भी तप का आश्रय लेना चाहिए।

साधु के लिए दशवैकालिक में **'एगभत्तं च भोयणं'** (दिन में एक बार सात्त्विक भोजन) का जो विधान किया गया है, वह एकदम युक्तिसंगत है। दिन में एक बार सात्त्विक भोजन लेने से शरीर के लिए आवश्यक ऊर्जा-शक्ति की भी प्राप्ति हो जाती है और दैनिक आराधना-साधना में भी नियमितता रहती है।

कामविकार का उद्दीपन होने पर शास्त्र में भी अट्ठम आदि उत्कट तप करने का निर्देश किया गया है। उत्कट तप से कामविकार शांत हो जाते हैं।

काम का भोजन के साथ सीधा संबंध है। तप द्वारा आहार-संयम होते ही काम पर आसानी से विजय पा सकते है। कामविजय के लिए आयंबिल का तप एक रामबाण उपाय है। आयंबिल के भोजन से रसना पर तो विजय मिलती है, साथ में काम पर भी विजय प्राप्त की जा सकती है। अतः साधक को अपने जीवन में विवेकपूर्वक तप धर्म का आचरण अवश्य करना चाहिए।

20. कायोत्सर्ग : कायोत्सर्ग की साधना के द्वारा भी भटकते हुए मन को नियंत्रित किया जा सकता है। मन को केन्द्रित करने के लिए कायोत्सर्ग श्रेष्ठ साधना है। कायोत्सर्ग द्वारा काया के ममत्व का त्याग करना होता है। जहाँ काया की ममता नहीं रहेगी, वहाँ काम का अस्तित्व भी कैसे टिक पाएगा ? भगवान महावीर प्रभु भी अपने छद्मस्थ काल में अधिकांश समय कायोत्सर्ग की साधना में ही बिताते थे। **खड़े-खड़े लंबे समय तक कायोत्सर्ग करने से मन का भटकाव रुक जाता है और साधक आत्मोन्नति के शिखर पर चढ़ता जाता है।**

ब्रह्मचर्य के उपाय

पेट्रोल का स्पर्श करेंगे तो वह ठंडा ही लगेगा। परंतु उसके भीतर तो भयंकर अग्नि रही हुई है। वह अग्नि, चिनगारी के निमित्त को पाकर ही प्रकट हो सकती है। बस, इसी प्रकार अनादि काल से आत्मा में मैथुन संज्ञा अर्थात् काम वासना रही हुई है, जो यौवन वय, विजातीय तत्त्व व एकांत आदि निमित्तों को पाकर जागृत होती है।

जिस प्रकार एक कुत्ते के पास हड्डी का टुकडा आता है तो वह उसे जोर से चबाता है, परिणाम स्वरूप उसके मसूढों में से खून बहने

लगता है, वह खून उसके मुँह में आता है और उस समय कुत्ता यह सोचता है कि मुझे हड्डी में से खून मिल रहा है। बस, इस कुत्ते की तरह कामी व्यक्ति का भी एक भ्रम होता है कि स्त्री के भोग से मुझे सुख मिल रहा है, वास्तव में देखा जाय तो वह भोग द्वारा अपनी ही शक्ति का व्यय कर रहा होता है।

भर्तृहरि ने ठीक ही कहा है— **'भोगा न भुक्ता वयमेव भुक्ताः।'**

आदमी भोग को नहीं भोगता है परंतु भोग ही उसका भोग ले लेता है।

ईंधन से अग्नि और जल से सागर कभी तृप्त नहीं होता ! बस, इसी प्रकार भोग से आत्मा कभी तृप्त नहीं होती है। बल्कि वह भूख और अधिक बढ़ती जाती है। 16000 स्त्रियाँ जिसके अंतःपुर में थीं ऐसा रावण भी अतृप्त ही था, क्योंकि वह भोग से तृप्ति पाना चाहता था जो कदापि संभव नहीं है।

काम विजय कठिन है, अन्य इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करना तो भी आसान है परंतु स्पर्शनेन्द्रिय को जीतना अत्यंत ही कठिन है। अन्य चार महाव्रतों का पालन करना तो भी आसान है, परंतु ब्रह्मचर्य महाव्रत का पालन करना अत्यंत ही कठिन है। अन्य सभी व्रतों में अपवाद बताए गए हैं, परंतु मैथुनत्याग में कहीं भी अपवाद नहीं है, क्योंकि राग भाव के बिना मैथुन की प्रवृत्ति शक्य ही नहीं है। युवावस्था में काम-वासना का जोर अधिक होता है, अतः उस पर विजय प्राप्त करने के लिए निम्न उपाय करने चाहिए–

1) गुरु कृपा प्राप्त करें :– सद्गुरु की कृपा में अजोड़ शक्ति रही हुई है। गुरु कृपा से अल्पज्ञानी भी महान्ज्ञानी बन जाता है। गुरु की अवज्ञा करनेवाले चारित्र से भी भ्रष्ट हो जाते हैं। गुरु की अवज्ञा करने वाले कुलवालक मुनि चारित्र से भी भ्रष्ट बने थे।

2) कठोर बाह्यतप करें :– जिसे कामवासना बहुत सताती हो, छोटे-छोटे निमित्तों को पाकर जिसका मन वासना से उत्तेजित हो जाता हो उसे अपने जीवन में कठोर तप का आलंबन लेना चाहिए। ब्रह्मचर्य पालन के इच्छुक व्यक्ति को सात्त्विक आहार लेना चाहिए। आयंबिल

का भोजन सर्वश्रेष्ठ आहार है । आयंबिल के भोजन से शरीर के लिए आवश्यक पोषक तत्त्व भी मिल जाते हैं और रसनेन्द्रिय पर कंट्रोल भी आ जाता है । रसनेन्द्रिय को जीतनेवाला अन्य इन्द्रियों को भी अपने वश कर लेता है ।

3) निमित्तों से बचें :– अग्नि का संसर्ग होने से पेट्रोल में आग भड़क उठती है उसी प्रकार शराब, मांसाहार, होटल, क्लब, जिमखाना, बाग बगीचा, तालाब, ब्ल्यू बुक्स, ब्ल्यू फिल्म, सह-शिक्षण, अश्लील विज्ञापन एवं उद्भट वेष, तंग वस्त्र आदि को देखने पर युवा जगत् में सुषुप्त अवस्था में पड़ी कामवासना जागृत हो जाती है ।

4) बाह्य निमित्तों से दूर रहें :– सिनेमा, टी.वी. पिक्चर, ब्ल्यू फिल्में आदि कामोत्तेजक पदार्थ हैं अतः उनसे सर्वथा दूर रहना चाहिए । आँखें जिस दृश्य को पकड़ेंगी, उस दृश्य का मन पर प्रभाव पड़े बिना नहीं रहेगा ।

5) संध्या भोजन छोड़ दें :– संध्या व रात्रि का भोजन भी कामवासना को उत्तेजित करता है, अतः शक्य हो तो शाम का भोजन सर्वथा छोड़ देना चाहिए ।

6) उत्तेजक भोजन न करें :– रसप्रद व Tasteful भोजन से कामवासना को पोषण मिलता है, अतः वासना पर विजय पाने के लिए उत्तेजक व रसप्रद भोजन का त्याग कर देना चाहिए । अधिक प्रमाण में तीखे व नमकीन युक्त भोजन से भी काम वासना को उत्तेजन मिलता है ।

7) महापुरुष व महासतियों का स्मरण :– रात्रि में सोते समय व प्रातःकाल उठते समय सत्त्वशाली महापुरुषों को व प्राणांत कष्ट में भी शील व्रत का अखंड पालन करनेवाली महासतियों को याद करना चाहिए ।

8) भव आलोचना अवश्य करें :– पाप के पश्चात्ताप में आत्मा के ऊर्ध्वीकरण की अपूर्व शक्ति रही हुई है । मोह व अज्ञानता के कारण जो भूलें हो चुकी हैं, उनको हृदय से स्वीकार करना चाहिए और भविष्य में उन भूलों का पुनरावर्तन न हो जाय, इसके लिए अत्यंत ही सावधान रहना चाहिए ।

9) परलोक का विचार करें :– अब्रह्म के सेवन से आत्मा को परलोक में भयंकर कटु विपाक भुगतने पड़ते हैं । नरक में परमाधामी देवता धगधगायमान लोहे की पुतलियों का आलिंगन करने हेतु तीव्र दबाव करते हैं । जीते जी चमड़ी उतार दी जाती है । यहाँ कामभोग में क्षण भर का सुख है, परंतु परिणामस्वरूप नरक में लाखों-करोड़ों, अरबों वर्ष तक भयंकर यातनाएँ भुगतनी पड़ती हैं ।

10) अशुचि भावना से मन को भावित करें :– मानव शरीर के भीतर भयंकर गंदगी रही हुई है । मल-मूत्र, हाड-मांस से यह देह भरा हुआ है । ऊपर रही गौरवर्णीय चमड़ी का आकर्षण परिणाम में तो अत्यंत ही खतरनाक है । स्त्री देह बाहर से कितना ही सुंदर क्यों न हो, भीतर से तो अत्यंत ही बीभत्स है । बाहर की चमड़ी उतर जाय तो उसकी ओर एक क्षण का भी आकर्षण नहीं रहेगा । अब्रह्म के पाप से बचने के लिए हमेशा अशुचि भावना से अपनी आत्मा को भावित करें ।

11) विजातीय-सजातीय स्पर्श त्याग :– ब्रह्मचर्य पालन के इच्छुक व्यक्ति को विजातीय और सजातीय के अंगोपांग के स्पर्श का भी त्याग करना चाहिए । इस स्पर्श के पाप में से हस्त मैथुन का पाप जीवन में फलता-फूलता है और व्यक्ति स्वप्न दोष आदि का शिकार बनकर सत्त्वहीन शक्तिहीन बन जाता है ।

वासनाशमन का श्रेष्ठ उपाय-भक्तियोग

मानव मात्र को पाँच इन्द्रियों की प्राप्ति हुई है । दैनिक जीवन-पद्धति में उन इन्द्रियों का प्रयोग होता ही रहता है ।

रूपदर्शन आँख का स्वभाव है तो शब्द-श्रवण कान का स्वभाव है । कहीं भी जायेंगे-आयेंगे तो आँख को एकदम बन्द तो नहीं कर सकते और आँख खुली होगी तो वह देखे बिना नहीं रहेगी ।

इसी प्रकार व्यक्ति चलता है-आता-जाता है तो कान को बन्द करके नहीं । जहाँ कहीं भी आवाज होगी, कान उन शब्दों को पकड़े बिना नहीं रहेंगे ।

इन इन्द्रियों की प्रवृत्ति का सर्वथा निरोध तो सामान्य मानव के लिए शक्य नहीं है । यह कार्य तो एक मात्र योगी पुरुष ही कर सकते हैं ।

दूसरी समस्या है दुनिया में जहाँ-तहाँ अशुभ निमित्त भरे हुए हैं। रेडियो चालू करें तो फिल्मी संगीत सुनाई देगा। बाजार में जाओ तो फिल्म के बड़े-बड़े पोस्टर दीवारों पर लगे हुए देखने को मिलेंगे। रेलवे स्टेशन पर जाएँ तो वहाँ भी यही हालत। फिल्मी संगीत और फिल्मी पोस्टरों ने चारों ओर के वातावरण को दूषित कर दिया है।

सामान्यतया मानव की आँखें और कान तो खुले ही रहते हैं, अतः बाह्य वातावरण में जो दृश्य दिखाई देगा अथवा जो शब्द सुनाई देंगे...उन्हीं दृश्यों व शब्दों को अपना मन पकड़ेगा।

शब्द व रूप मानव-मन को अत्यधिक प्रभावित करते हैं।

जिस प्रकार किसी के कटु शब्द जीवन भर याद रहते हैं, उसी प्रकार किसी स्त्री का रूप अथवा उसके मधुर शब्द भी व्यक्ति के हृदय को एकदम छू जाते हैं और व्यक्ति उन शब्दों में मोहित बन जाता है।

बस, इसी प्रकार रुप का भी आकर्षण ऐसा ही है। एक बार किसी के रूप में मुग्ध बन जाने के बाद व्यक्ति, पुनः पुनः उस रूप का पिपासु बना रहता है और उस रूपदर्शन द्वारा अपनी वासना को पुष्ट करता रहता है।

ब्रह्मचर्य के साधक को तो दीवार पर लगे हुए स्त्री के चित्र को भी घूर कर देखने का स्पष्ट निषेध किया गया है, तो एकान्त में बैठकर अपनी बहिन से भी बातचीत करने का निषेध किया है। इन सब साधु-मर्यादाओं के पीछे काफी रहस्य रहा हुआ है।

एक मुनि के लिए तो अपनी सगी माँ व बहिन के पास भी एकान्त में लम्बे समय तक बैठने का निषेध किया गया है क्योंकि इससे व्यवहार-मार्ग दूषित होता है।

मुनि जानते हैं कि यह मेरी बहिन है, परन्तु दूसरों को कहाँ पता है कि यह उनकी बहिन है, अतः ऐसे दृश्यों से दूसरों के दिल में झूठी आशंका पैदा होती है। इसके साथ ही जब बड़ा व्यक्ति इस प्रकार की प्रवृत्ति करता है तो छोटों को भी इस प्रकार की प्रवृत्ति करने का मार्ग मिल जाता है, परिणामस्वरूप नुकसान ही होता है।

अपना प्रश्न यही है कि सतत प्रवृत्तिशील इन इन्द्रियों को कैसे वश में रखा जाय ?

इसके लिए महापुरुषों ने हमें सर्वश्रेष्ठ उपाय बतलाया है-वह है भक्तिमार्ग का ।

जो पूर्णतया वासनामुक्त बन चुके हैं ऐसे परम उपास्य वीतराग परमात्मा के साथ जब अपनी आत्मा का भक्ति-संबंध जुड़ जाता है, तब स्वाभाविक ही अन्तरात्मा में रहे हुए वासना के पटल दूर हो जाते हैं ।

रूप ही देखना है तो वीतराग परमात्मा का देखो, जो अविनाशी हैं-अविनश्वर हैं । जिस रूप में किसी प्रकार की विकृति नहीं है ।

``हाँ ! रूप तो किसी सुन्दर स्त्री में भी रहा हुआ है-परन्तु वह रूप क्षणिक है, मर्यादित समय के लिए है । समय के परिवर्तन के साथ ही वह रूप अत्यन्त विकृत हो जाने वाला है । युवावस्था में जिस रुप को सोलह कलाओं से खिले हुए चन्द्र की उपमा देते थे, वही रूप वृद्धावस्था में एकदम विकृत हो जाता है...उसकी ओर देखने की भी इच्छा नहीं होती है ।''

श्रीकृष्ण की भक्ति में मीरा कितनी पागल (मस्त) बन गई थी, उसके मुख पर एक ही स्वर था-

`मेरे तो गिरधर गोपाल, दूसरो न कोई ।''

जो कान परमात्मभक्ति के मधुर संगीत में आकण्ठ डूब गये हैं, उन कानों को फिल्मी गीत भी एक कचरे की भाँति ही प्रतीत होते हैं ।

परमात्म-भक्ति की मस्ती कोई न्यारी और निराली ही है । भक्ति की मस्ती में तन्मय बनी उस आत्मा को दुनियां का कोई आकर्षण लुभा नहीं सकता ।

वासनामुक्ति के लिए भक्तियोग एक ऐसा श्रेष्ठ उपाय है जिसमें आँख, कान आदि इन्द्रियों के बाह्य व्यापार को नष्ट नहीं किया जाता है, बल्कि उसके व्यापार के विषय को बदल दिया जाता है ।

जो आँखें बाह्य चमड़ी के क्षणिक सौन्दर्य के पीछे पागल बनी हुई थीं, अब वे आँखें परमात्मा के निरुपम रूप के दर्शन की पिपासु बनी हुई हैं ।

जो कान फिल्मी हीरो के संगीत की स्वरलहरियों में पागल बने

हुए थे...अब वे भक्तियोग के उन शब्दों के श्रवण से मस्त बने हैं, जो आत्मा की सुषुप्त चेतना को जाग्रत करने में एकदम सक्षम हैं।

ऋषभदेव प्रभु के रूपदर्शन में तन्मय बने योगिराज आनन्दघनजी तभी तो गा उठे थे-

ऋषभ जिनेश्वर प्रीतम माहरो रे,
और न चाहु रे कंत ।

वासनामुक्त-निष्काम परमात्मा के रूपदर्शन से और उनकी वाणी के श्रवण से अपनी आत्मा में रही वासना दूर हुए बिना नहीं रहती है। निष्काम परमात्मा के शब्दों में (उपदेश में) प्रचण्ड ताकत रही हुई है।

जिनागमों के शब्द-श्रवण के माध्यम से, सद्गुरु भगवन्तों की वाणी के श्रवण से अथवा मानसिक कल्पना द्वारा परमात्मा की वाणी के शब्द-चित्र को खड़ा करने से अपनी आत्मा में रहे वासना के कुसंस्कार नष्ट हुए बिना नहीं रहेंगे ।

स्त्री का रूपदर्शन हमारे दिल में राग व वासना को उत्पन्न करता है, क्योंकि वह स्त्री भी वासना से भरी हुई है, जबकि वीतराग परमात्मा स्वयं वासनामुक्त बने हुए हैं, अतः उनका दर्शन भी दर्शक के दिल में वासनामुक्ति के भाव को ही पैदा करेगा ।

सामान्यतया व्यक्ति के अन्तर्मन में जो भाव, जो वासनाएँ रमती होती हैं, वे ही भाव उसके रूपदर्शन में भी झलकते हुए नजर आते हैं ।

परमात्मा निर्विकार हैं, अतः उनके चेहरे पर भी निर्विकारता के साक्षात् दर्शन होते हैं ।

योगी पुरुषों का रूपदर्शन भी मन को आह्लादित कर देता है। प्रभु के दर्शन के साथ ही मन प्रसन्नता से भर जाता है क्योंकि परमात्मा स्वयं प्रसन्नता की मूर्ति हैं।

निर्विकारी योगी पुरुषों के शब्दों में भी प्रचण्ड शक्ति रही हुई है। उनके अल्प शब्द भी सामने वाले व्यक्ति के हृदय को हिला देने में सक्षम होते हैं ।

जैन हिन्दी साहित्य दिवाकर, मरुधररत्न, पू.आ. श्रीमद् विजय रत्नसेनसूरीश्वरजी म.सा. द्वारा मुख्यतया हिन्दी भाषा में आलेखित 255 पुस्तकों में से उपलब्ध एवं अवश्य पठनीय साहित्य-सूची

Sr. No.	पुस्तक का नाम	मूल्य	Sr. No.	पुस्तक का नाम	मूल्य
1.	पंच-प्रतिक्रमण सूत्र (भाग-1)	210/-	40.	आत्म-उत्थान का मार्ग-भाग-3	150/-
2.	पंच-प्रतिक्रमण सूत्र (भाग-2)	220/-	41.	श्री नमस्कार महामंत्र	180/-
3.	पंच-प्रतिक्रमण सूत्र (भाग-3)	125/-	42.	परमेष्ठि-नमस्कार	180/-
4.	पंच-प्रतिक्रमण सूत्र (भाग-4)	135/-	43.	आठ कर्म निवारण पूजाएं	200/-
5.	आओ संस्कृत सीखें भाग-1	150/-	44.	तत्त्वार्थ-सूत्र-भाग-1	200/-
6.	आओ संस्कृत सीखें भाग-2	400/-	45.	तत्त्वार्थ-सूत्र-भाग-2	200/-
7.	आओ ! प्राकृत सीखें भाग-2	85/-	46.	सज्झायों का स्वाध्याय	100/-
8.	विवेकी बनो	90/-	47.	सम्यग्दर्शन का सूर्योदय	160/-
9.	प्रवचन-वर्षा	60/-	48.	श्रमण क्रिया के मुख्य सूत्र	200/-
10.	आओ श्रावक बनें !	25/-	49.	कल्पसूत्र के हिन्दी प्रवचन	240/-
11.	व्यसन-मुक्ति	100/-	50.	पर्युषण अष्टाह्निका प्रवचन	120/-
12.	श्रावक जीवन दर्शन	250/-	51.	आओ ! पर्युषण प्रतिक्रमण करें !	150/-
13.	महावीर प्रभु की पट्टधर-परंपरा (41 से 57)	275/-	52.	प्रतिक्रमण उपयोगी संग्रह	80/-
14.	महावीर प्रभु की पट्टधर-परंपरा (58 से 80)	280/-	53.	मन के जीते जीत है	80/-
15.	सात वासुदेव-प्रतिवासुदेव बलदेव	50/-	54.	प्रात: स्मरणीय महापुरुष भाग-1	300/-
16.	समाधि मृत्यु	80/-	55.	प्रात: स्मरणीय महापुरुष भाग-2	300/-
17.	Pearls of Preaching	60/-	56.	प्रात: स्मरणीय महासतियाँ भाग-1	280/-
18.	New Message for a New Day	600/-	57.	प्रात: स्मरणीय महासतियाँ भाग-2	300/-
19.	Panch Pratikraman Sootra	100/-	58.	इन्द्रिय पराजय शतक	150/-
20.	अमृत रस का प्याला	300/-	59.	संबोह-सित्तरि (वैराग्य का अमृत कुंभ)	160/-
21.	ध्यान साधना	40/-	60.	वैराग्य-शतक	140/-
22.	जीव विचार विवेचन	100/-	61.	आनन्दघन चौबीसी विवेचन	200/-
23.	नवतत्त्व विवेचन	110/-	62.	धर्म-बीज	140/-
24.	दंडक सूत्र विवेचन	90/-	63.	45 आगम परिचय	200/-
25.	लघु संग्रहणी	140/-	64.	नित्य देववंदन	निशुल्क
26.	तीन भाष्य	150/-	65.	श्री भद्रंकर प्रश्नोत्तरी	170/-
27.	पहला कर्मग्रन्थ	160/-	66.	अध्यात्मयोगी से प्रश्नोत्तर	160/-
28.	दूसरा कर्मग्रन्थ	55/-	67.	कोयंबत्तुर-प्रवचन	150/-
29.	तीसरा कर्मग्रन्थ	90/-	68.	दक्षिण भारत प्रवचन	160/-
30.	चौथा कर्मग्रन्थ	140/-	69.	महावीर-प्रभु की अंतिम देशना	220/-
31.	पाँचवाँ कर्मग्रन्थ	160/-	70.	योग की आठ दृष्टियाँ	430/-
32.	छठा-कर्मग्रन्थ	210/-	71.	साचा माणस बनीए ! (गुजराती)	300/-
33.	गणधर-संवाद	80/-	72.	शुभ-संदेश	250/-
34.	आओ ! उपधान पौषध करें !	130/-	73.	भक्ति से मुक्ति	200/-
35.	विविध देववंदन	100/-	74.	सहनशील बनों (22 परीषह)	180/-
36.	भव आलोचना	10/-	75.	नवपद आराधना विधि	नवपद आराधना
37.	आध्यात्मिक पत्र	60/-	76.	शत्रुंजय की भाव यात्रा	230/-
38.	आत्म-उत्थान का मार्ग-भाग-1	125/-	77.	नवकार-प्रवचन	180/-
39.	आत्म-उत्थान का मार्ग-भाग-2	175/-	78.	10 श्रमण-धर्म	250/-

पुस्तक प्राप्ति स्थान : दिव्य सन्देश प्रकाशन C/o. सुरेन्द्र जैन, Office No. 304, 3rd Floor, बे व्यु बिल्डींग, विंग-ईस्ट बे, डॉ. एम.बी. वेलकर स्ट्रीट,कालबादेवी, मुंबई-400 002. M. 84 84 84 84 51 (only whatsapp)

Kamal PRINTER'S
M. 9820530299